अनेकान्त

सम्पादक–जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

योगेश्वर शिव

अनेकान्त
वर्ष १२
किरण ६

नवम्बर
सन्
१९५३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

१ समयसारकी १५वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी—
[सम्पादक १७७
२ ऋषभदेव और शिवजी—
[ले० बाबू कामताप्रसाद जैन ... १८५
३ हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण—
[परमानन्द जैन शास्त्री ... १८८
४ हिन्दी-जैन-साहित्यमें तत्वज्ञान—
[श्रीकुमारी किरणबाला जैन ... १९५
५ कुरलका महत्व और जैनकर्तृत्व-[श्रीविद्याभूषण
पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री ... २००
६ 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' का संशोधन—
[पं० दीपचन्द पाण्ड्या और रतनलाल
कटारिया, केकड़ी ... २०१
७ जिनशासन (प्रवचन) [कानजी स्वामी ... २११
८ दुःसह भातृ-वियोग—[जुगलकिशोर मुख्तार टाइ० २ पेज
श्री बाहुबलिजिन पूजाका अभिनन्दन टाइटिल ३ पेज

दुःसह भ्रातृ-वियोग !!

श्रीमान् बाबू छोटेलालजी और बाबू नन्दलालजी कलकत्ताके पत्रोंसे यह मालूम करके कि उनके सबसे छोटे भाई लालचन्दजीका गत २२ अक्टूबर को देहान्त होगया है, बड़ा ही दुःख तथा अफ़सोस हुआ !! भादों की अनन्तचतुर्दशी तक लालचन्दजी अच्छे राजी खुशी थे और उस दिन उन्होंने सब मन्दिरोंके दर्शन भी किये थे ! पूर्णिमासे उन्हें कुछ ज्वर हुआ जो बढ़ता गया और आठ दिन उसीकी चिकित्सा होती रही; बादको पेटमें ज़ोरसे दर्द प्रारंभ हुआ जो किसी उपायसे शान्त न होनेके कारण पेटको चीरनेकी नौबत आई और कलकत्तेके छह सबसे बड़े नामी डाक्टरों तथा सिविल सर्जनोंकी देख रेखमें पेटका आपरेशन कार्य सम्पन्न हुआ और उससे यह जान पड़ा कि अग्निकी थैलीमें छिद्र होगये हैं जिनका होना एक बहुत ही खतरनाक वस्तु है । सब डाक्टरोंने मिलकर बड़ी सावधानीके साथ जो कुछ चिकित्सा की जा सकती थी वह की और जैसे तैसे १६ दिन तक उसे मृत्यु मुखमें जानेसे रोके रक्खा परन्तु अन्तको कालकी भयङ्कर झपेटसे वह न बच सका और सब डाक्टरादि देखतेके देखते रह गये !!! इस दुःसह भ्रातृ वियोगसे दोनों भाइयोंको जो सदमा पहुँचा है उसे कौन कह सकता है ! अभी आपके बड़े भाई बाबू दीनानाथजीके वियोगको एक ही वर्ष होने पाया था और उससे पहले उनकी माताजी तथा दूसरे बड़े भाई गुलजारीलालजीका भी वियोग होगया था। इस तरह दो तीन वर्षके भीतर आपको तीन भाइयों और एक माताजीका वियोग सहन करनेके लिये बाध्य होना पड़ा है, यह बड़ा ही कष्टकर है ! लालचन्दजीके पहली स्त्रीसे एक लड़का और एक लड़की (दोनों विवाहित) और दूसरी स्त्रीसे आठ बच्चे हैं, जिनकी बड़ी समस्या एवं चिन्ता दोनों भाइयोंके सामने खड़ी होगई है। इधर बाबू छोटेलालजी कई वर्षोंसे बीमार चले जाते हैं, ये सदमे और चिन्ताएँ उनके स्वास्थ्यको और भी उभरने नहीं देतीं— दस दिनको खड़े होते है तो फिर गिर जाते है और महीनोंके लिये रोगशय्या पर सवार हो जाते हैं। इसीसे जैन साहित्य और इतिहासकी सेवाके जो उनके बड़े मन्सूबे हैं वे यों ही टलते जाते हैं और कुछ भी कार्य हो नहीं पाता, यह उनके ही नहीं किन्तु समाजके भी दुर्भाग्यका विषय है जो ऐसे सेवाभावी सज्जनों पर संकट पर संकट उपस्थित होते चले जाते हैं । आपके इस ताज़ा संकटमें वीरसेवामन्दिर-परिवार अपनी संवेदना व्यक्त करता हुआ मृतात्माके लिये परलोकमें सुख-शान्तिकी भावना करता है और हृदयसे कामना करता है कि दोनों भाइयों और उनके तथा मृतात्माके सारे कुटुम्ब-परिवारको धैर्यकी प्राप्ति होवे ।

जुगलकिशोर, मुख्तार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

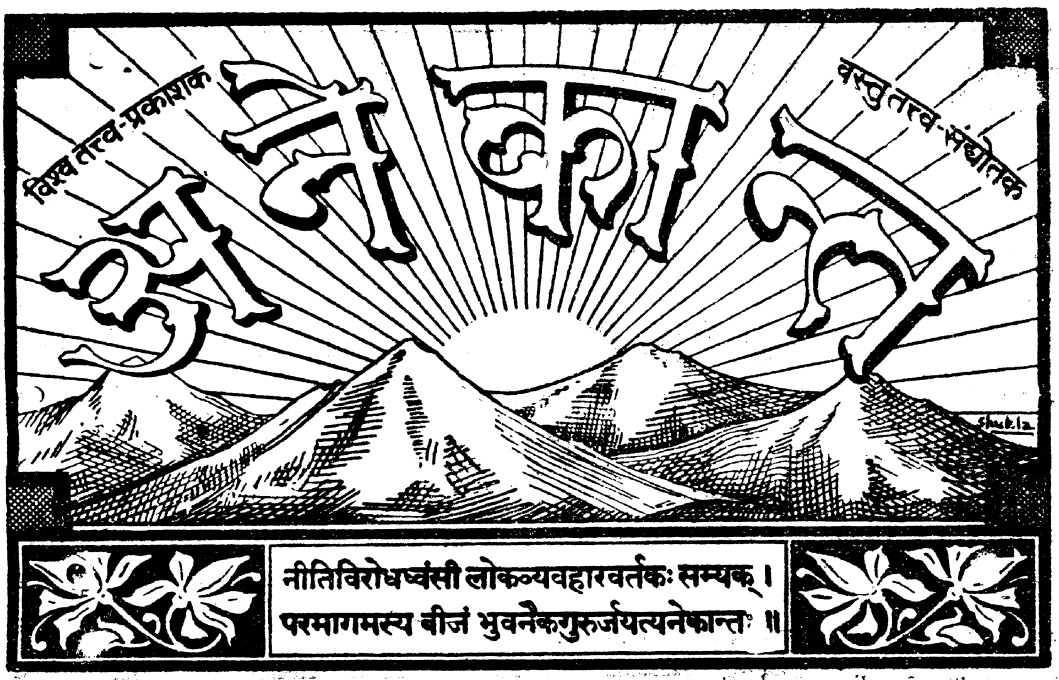

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य ।।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ६	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली कार्तिक वीरनि० संवत् २४८०, वि० संवत् २०१०	नवम्बर १९५३

समयसारकी १५वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी

[सम्पादकीय]

प्रास्ताविक—

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी कृतियोंमें 'समयसार' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आज कल अधिकतर पठन-पाठनका विषय बना हुआ है। इसकी १५ वीं गाथा अपने प्रचलित रूपमें इस प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

इसमें बतलाया गया है कि 'जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट अनन्य और अविशेष जैसे रूपमें देखता है वह सारे जिन-शासनको देखता है'। इस सामान्य कथन पर मुझे कुछ शंकाएँ उत्पन्न हुईं और मैंने उन्हें कुछ आध्यात्मिक विद्वानों एवं समयसार-रसिकोंके पास भेजकर उनका समाधान चाहा अथवा इस गाथाका टीकादिके रूपमें ऐसा स्पष्टीकरण मांगा जिससे उन शंकाओंका पूरा समाधान होकर गाथाका विषय स्पष्ट और विशद हो जाए। परन्तु कहींसे कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। दो एक विद्वानोंसे प्रत्यक्षमें भी चर्चा चलाई गई पर सफल मनोरथ नहीं हो सका। और इसलिये मैंने इस गाथाकी व्याख्याके लिये १००) रुपएके पुरस्कारकी एक योजना की और उसे अपने ५००) रु० के पुरस्कारोंकी उस विज्ञप्तिमें अप्रस्थान दिया जो गतवर्षके अनेकान्तकी संयुक्त किरण नं० ४-५ में प्रकाशित हुई है। गाथाकी व्याख्यामें जिन बातोंका स्पष्टीकरण चाहा गया वे इस प्रकार हैं:—

(१) आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेषरूपसे देखने पर सारे जिनशासनको कैसे देखा जाता है?

(२) उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस द्रष्टाके द्वारा पूर्णतः देखा जाता है?

(३) वह जिनशासन श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति और अकलंक जैसे महान् आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनसे क्या कुछ भिन्न है?

(४) यदि भिन्न नहीं है तो इन सबके द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी संगति कैसे बैठती है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) इस गाथामें 'अपदेससंतमज्झं' नामक जो पद पाया जाता है और जिसे कुछ विद्वान् 'अपदेससुत्तमज्झं' रूपसे भी उल्लेखित करते हैं उसे 'जिणशासणं' पदका विशेषण बतलाया जाता है और उससे द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुतका भी अर्थ लगाया जाता है, यह सब कहाँ तक संगत है अथवा पदका ठीक रूप, अर्थ और सम्बन्ध क्या होना चाहिए ?

(६) श्रीअमृतचन्द्राचार्य इस पदके अर्थ विषयमें मौन हैं और जयसेनाचार्यने जो अर्थ किया है वह पदमें प्रयुक्त हुए शब्दोंको देखते हुए कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है, यह क्या ठीक है अथवा उस अर्थमें खटकने जैसी कोई बात नहीं है ?

(७) एक सुझाव यह भी है कि यह पद 'अपवेससंतमज्झं' (अप्रवेशसान्तमध्यं है, जिसका अर्थ अनादि-मध्यान्त होता है और यह 'अप्पाणं (आत्मानं' पदका विशेषण है, न कि 'जिणसासणं' पदका। शुद्धात्माके लिये स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्ड (६) में और सिद्धसेनाचार्यने स्वयम्भूस्तुति (प्रथमद्वात्रिंशिका १) में 'अनादिमध्यान्त' पदका प्रयोग किया है। समयसारके एक कलशमें अमृतचन्द्राचार्यने भी 'मध्याद्यन्तविभागमुक्त' जैसे शब्दों द्वारा इसी बातका उल्लेख किया है। इन सब बातोंको भी ध्यानमें लेना चाहिये और तब यह निर्णय करना चाहिये कि क्या उक्त सुझाव ठीक है ? यदि ठीक नहीं हैं तो क्यों ?

(८) १४ वीं गाथामें शुद्धनयके विषयभूत आत्माके लिए पाँच विशेषणोंका प्रयोग किया गया है, जिनमेंसे कुल तीन विशेषणोंका ही प्रयोग १५ वीं गाथामें हुआ है, जिसका अर्थ करते हुए शेष दो विशेषणों-'नियत' और 'असंयुक्त'को भी उपलक्षणके रूपमें ग्रहण किया जाता है; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मूलकारका ऐसा ही आशय था तो फिर इस १५ वीं गाथामें उन विशेषणोंको क्रम भंग करके रखनेकी क्या जरूरत थी ? १४ वीं गाथा * के पूर्वार्धको ज्योंका त्यों रख देने पर भी शेष दो विशेषणोंको उपलक्षणके द्वारा ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं किया गया; तब क्या इसमें कोई रहस्य है, जिसके स्पष्ट होनेकी जरूरत है ? अथवा इस गाथाके अर्थमें उन दो विशेषणोंको ग्रहण करना युक्त नहीं है ?

विज्ञप्तिके अनुसार किसी भी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्याके रूपमें अपना निबन्ध भेजनेकी कृपा नहीं की, यह खेदका विषय है ! हालाँकि विज्ञप्तिमें यह भी निवेदन किया गया था कि 'जो सज्जन पुरस्कार लेनेकी स्थितिमें न हों अथवा उसे लेना न चाहेंगे उनके प्रति दूसरे प्रकारसे सम्मान व्यक्त किया जायगा। उन्हें अपने अपने इष्ट एवं अधिकृत विषय पर लोकहितकी दृष्टिसे लेख लिखनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये।' इस निवेदनका प्रधान संकेत उन त्यागी महानुभावों—क्षुल्लकों, ऐलकों, मुनियों, आत्मार्थिजनों तथा निःस्वार्थ-सेवापरायणोंकी ओर था जो अध्यात्मविषयके रसिक हैं और सदा समयसारके अनुचिन्तन एवं पठन-पाठनमें लगे रहते हैं। परन्तु किसी भी महानुभावको उक्त निवेदनसे कोई प्रेरणा नहीं मिली अथवा मिली हो तो उनकी लोकहितकी दृष्टि इस विषयमें चरितार्थ नहीं हो सकी और इस तरह प्रायः छह महीनेका समय यों ही बीत गया। इसे मेरा तथा समाजका एक प्रकारसे दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

गत माघ मास (जनवरी सन् १९५३ में मेरा विचार वीरसेवामन्दिरके विद्वानों सहित श्री गोम्मटेश्वर बाहुबलीजीके मस्तकाभिषेकके अवसर पर दक्षिणकी यात्राका हुआ और उसके प्रोग्राममें खासतौरसे जाते वक्त सोनगढ़का नाम रक्खा गया और वहाँ कई दिन ठहरनेका विचार स्थिर किया गया; क्योंकि सोनगढ़ श्रीकानजीस्वामीमहाराजकी कृपासे आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंका गढ़ बना हुआ है और समयसारके अध्ययन-अध्यापनका विद्यापीठ समझा जाता है। वहाँ स्वामीजीसे मिलने तथा अनेक विषयोंके शंका-समाधानकी इच्छा बहुत दिनोंसे चली जाती थी, जिनमें समयसारका उक्त विषय भी था, और इसीलिये कई दिन ठहरनेका विचार किया गया था।

मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जबकि १२ फर्वरीको सुबह स्वामीजीका अपने लोगोंके सम्मुख प्रथम प्रवचन प्रारम्भ

---

* उक्त १४ वीं गाथा इस प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होनेसे पहले ही सभाभवनमें यह सूचना मिली कि 'आजका प्रवचन समयसारकी १५ वीं गाथा पर मुख्तार साहबकी शंकाओंको लेकर उनके समाधान रूपम होगा।' और इसलिये मैंने उस प्रवचनको बड़ी उत्सुकताके साथ गौरसे सुना जो घंटा भरसे कुछ ऊपर समय तक होता रहा है। सुनने पर मुझे तथा मेरे साथियोंको ऐसा लगा कि इसमें मेरी शंकाओंका तो स्पर्श भी नहीं किया गया है—यों ही इधर-उधरकी बहुतसी बातें गाथा तथा गाथेतर-सम्बन्धी कही गई हैं। चुनाँचे सभाकी समाप्तिके बाद मैंने उसकी स्पष्ट विज्ञप्ति भी कर दी और कह दिया कि आजके प्रवचनसे मेरी शंकाओंका तो कोई समाधान हुआ नहीं। इसके बाद एक दिन मैंने अलहदगीमें श्री कानजीस्वामीसे कहा कि आप मेरी शंकाओंका समाधान लिखा दीजिए—और नहीं तो अपने किसी शिष्यको ही बोलकर लिखा दीजिए। इसके उत्तरमें स्वामीजीने कहा कि 'न तो मैं स्वयं लिखता हूँ और न किसीको बोलकर लिखाता हूँ, जो कुछ कहना होता है उसे प्रवचनमें ही कह देता हूँ।' इस उत्तरसे मुझे बहुत बड़ी निराशा हुई, और इसीलिये यात्रासे वापिस आनेके बाद, अनेकान्तकी १२ वीं किरणके सम्पादकीयमें, 'समयसारका अध्ययन और प्रवचन' नामसे मुझे एक नोट लिखनेके लिये बाध्य होना पड़ा, जो इस विषयके अपने पूर्व तथा वर्तमान अनुभवोंको लेकर लिखा गया है और जिसके अन्तमें यह भी प्रकट किया गया है कि—

'निःसन्देह समयसार-जैसा ग्रन्थ बहुत गहरे अध्ययन तथा मननकी अपेक्षा रखता है और तभी आत्म-विकास जैसे यथेष्ट फलको फल सकता है। हर एकका वह विषय नहीं है। गहरे अध्ययन तथा मननके अभावमें कोरी भावुकतामें बहने वालोंकी गति बहुधा 'न इधरके रहे न उधरके रहे' वाली कहावतको चरितार्थ करती है अथवा वे उस एकान्तकी ओर ढल जाते हैं जिसे आध्यात्मिक एकांत कहते हैं और जो मिथ्यात्वमें परिगणित किया गया है। इस विषयकी विशेष चर्चाको फिर किसी समय उपस्थित किया जायगा।'

साथ ही उक्त किरणके उसी सम्पादकीयमें एक नोटद्वारा, 'पुरस्कारोंकी योजनाका नतीजा' व्यक्त करते हुए, यह इच्छा भी व्यक्त कर दी गई थी कि यदि क्रमसे दो विद्वान अब भी समयसारकी १५ वीं गाथाके सम्बन्धमें अभीष्ट व्याख्यात्मक निबन्ध लिखनेके लिए अपनी आमादगी १५ जून तक जाहिर करेंगे तो उस विषयके पुरस्कारकी पुनरावृत्ति करदी जाएगी अर्थात् निबन्धके लिये यथोचित समय निर्धारित करके पत्रोंमें उसके पुरस्कारकी पुनः घोषणा निकाल दी जाएगी। इतने पर भी किसी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्या लिखनेके लिए अपनी आमादगी जाहिर नहीं की और न सोनगढ़से ही कोई आवाज आई। और इसलिये मुझे अवशिष्ट विषयोंके पुरस्कारोंकी योजनाको रद्द करके दूसरे नये पुरस्कारोंकी ही योजना करनी पड़ी, जो इसी वर्षके अनेकान्त किरण नं० २ में प्रकाशित हो चुकी है। और इस तरह उक्त गाथाकी चर्चाको समाप्त कर देना पड़ा था।

हालमें कानजीस्वामीके 'आत्मधर्म' पत्रका नया आश्विनका अंक नं० ७ दैवयोगसे * मेरे हस्तगत हुआ, जिसमें 'जिनशासन' शीर्षकके साथ कानजीस्वामीका एक प्रवचन दिया हुआ है और उसके अन्तमें लिखा है—"श्री समयसार गाथा १५ पर पूज्य स्वामीजीके प्रवचनसे।" इस प्रवचनकी कोई तिथि-तारीख साथमें सूचित नहीं की गई, जिससे यह मालूम होता कि क्या यह प्रवचन वही है जो अपने लोगोंके सामने ता० १२ फरवरीको दिया गया था

* 'दैवयोगसे' लिखनेका अभिप्राय इतना ही है कि 'आत्मधर्म' अपने पास या वीरसेवामन्दिरमें आता नहीं है, पहले वह 'अनेकान्त' के परिवर्तनमें आता था, जबसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी जैसोंके कुछ लेख स्वामीजीके मन्तव्योंके विरुद्ध अनेकान्तमें प्रकाशित हुए तबसे आत्मधर्म अनेकान्तसे रुष्ट हो गया और उसने दर्शन देना ही बन्द कर दिया। पीछे किसी सज्जनने एक वर्षके लिये उसे अपनी ओरसे वीरसेवामन्दिरमें भिजवाया था, उसकी अवधि समाप्त होते ही अब फिर उसका दर्शन देना बन्द है; जबकि अपना 'अनेकान्त' पत्र कई वर्षसे बराबर कानजीस्वामीकी सेवामें भेंटस्वरूप जा रहा है। और इसलिए यह अंक अपने पास सोनगढ़के आत्मधर्म-आफिससे भेजा नहीं गया है—जबकि १५ वीं गाथाका विषय होनेसे भेजा जाना चाहिए था—बल्कि दिल्लीमें एक सज्जनके यहाँसे इत्तफ़ाकिया देखनेको मिल गया है यदि यह अंक न मिलता तो इस लेखके लिखे जानेका अवसर ही प्राप्त न होता। इस अंकका मिलना ही प्रस्तुत लेखके लिखनेमें प्रधान निमित्त कारण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा उसके बाद दिया गया कोई दूसरा ही प्रवचन है। यदि यह प्रवचन वही है जो १२ फरवरीको दिया गया था, जिसकी सर्वाधिक संभावना है, तो कहना होगा कि वह उस प्रवचनका बहुत कुछ संस्कारित रूप है। संस्कारका कार्य स्वयं स्वामीजीके द्वारा हुआ है या उनके किसी शिष्य अथवा प्रधान शिष्य श्रीरामजी मानिकचन्दजी दोशी वकीलके द्वारा, जोकि आत्मधर्मके सम्पादक भी हैं; परन्तु वह कार्य चाहे किसीके भी द्वारा सम्पन्न क्यों न हुआ हो, इतना तो सुनिश्चित है कि यह लेखबद्ध हुआ प्रवचन स्वामीजीको दिखला-सुनाकर और उनकी अनुमति प्राप्त करके ही छापा गया है और इसलिए इसकी सारी जिम्मेदारी उन्हींके ऊपर है। अस्तु।

इस लेखबद्ध संस्कारित प्रवचनसे भी मेरी शंकाओंका कोई समाधान नहीं होता। आठमेंसे सात शंकाओंको तो इसमें प्रायः छुआ तक भी नहीं गया है सिर्फ दूसरी शंकाका ऊपरा-ऊपरी स्पर्श करते हुए जिनशासनके रूप विषयमें जो कुछ कहा गया है वह बड़ा ही विचित्र तथा अविचारितरम्य जान पड़ता है। सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्तकी ओर ढला हुआ है, प्रायः एकान्त मिथ्यात्वको पुष्ट करता है और जिनशासनके स्वरूप-विषयमें लोगोंको गुमराह करने वाला है। इसके सिवा जिनशासनके कुछ महान् स्तंभोंको भी इसमें "लौकिकजन" तथा 'अन्यमती" जैसे शब्दोंसे याद किया है और प्रकारान्तरसे यहाँ तक कह डाला है कि उन्होंने जिनशासनको ठीक समझा नहीं; यह सब असत्य जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें समयाभावके होते हुए भी मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि मैं इस प्रवचनलेख पर अपने विचार व्यक्त करूँ, जिससे सर्वसाधारण पर यह स्पष्ट हो जाय कि प्रस्तुत प्रवचन समयसारकी १५ वीं गाथा पर की जाने वाली उक्त शंकाओंका समाधान करनेमें कहाँ तक समर्थ है और जिनशासनका जो रूप इसमें निर्धारित किया गया है वह कितना संगत अथवा सारवान् है। उसीके लिये प्रस्तुत लेखका यह सब प्रयत्न है और इसीसे कानजीस्वामीका उक्त प्रवचनलेख भी अनेकान्तकी इस किरणमें अन्यत्र ज्योंका त्यों उद्धृत किया जाता है जिससे सब सामग्री विचारके लिये पाठकोंके सामने रहे और इतना तो प्रवचनलेख पर दृष्टि डालते ही सहज अनुभवमें आ जाए कि इसमें उक्त आठ शंकाओंमेंसे किनके समाधानका क्या प्रयत्न किया गया है। आशा है सहृदय विद्वज्जन दोनों लेखों पर गंभीरताके साथ विचार करनेकी कृपा करेंगे और जहाँ कहीं मेरी भूल होगी उसे प्रेमके साथ मुझे सुझानेका भी कष्ट उठाएँगे, जिससे मैं उसको सुधारनेके लिये समर्थ हो सकूँ।

गाथाके एक पदका ठीक रूप, अर्थ और संबंध–

उक्त गाथाका एक पद 'अपदेससंतमज्झं' इस रूपमें प्रचलित है। प्रवचनलेखमें गाथाको संस्कृतानुवादके रूपमें प्रस्तुत करते हुए इस पदका संस्कृत रूप 'अपदेशसान्तमध्यं' दिया है, जिससे यह जाना जाता है कि श्रीकानजी स्वामीको पदका यह प्रचलित रूप ही इष्ट तथा मान्य है, जयसेनाचार्यने संत (सान्त) के स्थान पर जो 'सुत्त' (सूत्र) शब्द रक्खा है वह आपको स्वीकार नहीं है। अस्तु, इस पदके रूप अर्थ और सम्बन्धके विषयमें जो विवाद है उसे शंका नं० ५ में निबद्ध किया गया है। छठी शंका इस पदके उस अर्थसे सम्बन्ध रखती है जिसे जयसेनाचार्यने 'अपदेससुत्तमज्झं' पद मानकर अपनी टीकामें प्रस्तुत किया है और जो इस प्रकार है—

"अपदेससुत्तमज्झं अपदेशसूत्रमध्यं, अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशशब्दे द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति, तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति।'

इसमें 'अपदेस' का अर्थ जो द्रव्यश्रुत' और 'सुत्तं' का अर्थ 'भावश्रुत' किया गया है वह शब्द-अर्थकी दृष्टिसे एक खटकने वाली वस्तु है, जिसकी वह खटकन और भी बढ़ जाती है जब यह देखनेमें आता है कि 'मध्य' शब्दका कोई अर्थ नहीं किया गया—उसे वैसे ही अर्थसमुच्चयके साथमें लपेट दिया गया है।

कानजी स्वामीने यद्यपि 'सुत्त' शब्दकी जगह 'संत (सान्त)' शब्द स्वीकार किया है फिर भी इस पदका अर्थ वही द्रव्यश्रुत-भाश्रुतके रूपमें अपनाया है जिसे जयसेनाचार्यने प्रस्तुत किया है, चुनांचे आपके यहाँसे समयसारका जो गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है उसमें 'सान्त' का अर्थ 'ज्ञानरूपीभावश्रुत' दिया है, जो और भी खटकने वाली वस्तु बन गया है।

सातवीं शंका इस प्रचलित पदके स्थान पर जो दूसरा पद सुझाया गया है उससे सम्बन्ध रखती है। वह पद है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अपवेससंतमज्झं'। इस संसूचित तथा दूसरे प्रचलित पद-में परस्पर बहुत ही थोड़ा सिर्फ एक अक्षरका अन्तर है—इसमें 'वे' अक्षर है तो उसमें 'दे', शेष सब ज्योंका त्यों है। लेखकोंकी कृपासे 'वे' का दे' लिखा जाना अथवा पन्नोंके चिपक जाने आदिके कारण 'वे' का कुछ अंश उड़कर उसका दे' बन जाना तथा पढ़ा जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इस संसूचित पदका अर्थ 'अनादिमध्यान्त' होता है और यह विशेषण शुद्धात्माके लिये अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है, जिसके कुछ उदाहरण शंकामें नोट किये गये हैं और फिर पूछा गया है कि यदि पदका यह सुझाव ठीक नहीं है तो क्यों? ऐसी स्थितिमें प्रचलित पद और तद्विषयक यह सुझाव विचारणीय जरूर हो जाता है। इस तरह तीन शंकाएँ प्रचलित पदके रूपादि-विषयसे सम्बन्ध रखती हैं, जिन्हें प्रवचनलेखमें विचारके लिये छुआ तक भी नहीं गया—समाधानकी तो बात ही दूर है यह उस लेखको पढ़कर पाठक स्वयं जान सकते हैं। हो सकता है कि स्वामीजीके पास इन शंकाओंके समाधान-विषयमें कुछ कहनेको न हो और इसीसे उन्होंने अपने उस वाक्य ('जो कुछ कहना होता हैं उसे प्रवचनमें ही कह देता हूँ') के अनुसार कुछ न कहा हो। कुछ भी हो, पर इससे समयसारके अध्ययनकी गहराईको ठेस जरूर पहुँचती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि गत वर्ष सागरमें वर्णीजयन्तीके अवसर पर और इस वर्ष खास इन्दौरमें यात्राके अवसर पर मेरी इस पद-के रूपादि-विषयमें पं० वंशीधरजी न्यायालंकारसे भी' जो कि जैनसिद्धान्तके एक बहुत बड़े ज्ञाता हैं, चर्चा-आई थी, उन्होंने उक्त सुझावको ठीक बतलाते हुए कहा कि हम पहलेसे इस पदको 'अप्पाणं' पदका विशेषण मानते आए हैं, और तब इसके 'अपदेससुत्तमज्झं' (अप्रदेशसूत्रमध्यं) रूपको लेकर एक दूसरे ही ढंगसे इसके 'अनादिमध्यान्त' अर्थकी कल्पना करते थे (जो कि एक क्लिष्ट कल्पना थी। अब इसके प्रस्तावित रूपसे अर्थ बहुत ही स्पष्ट तथा सरल (सहज बोधगम्य) हो गया है। साथ ही वह भी बतलाया कि श्री जयसेनजीने इस पदका जो अर्थ किया है और उसके द्वारा इसे 'जिणसासणं' पदका विशेषण बनाया है वह ठीक तथा संगत नहीं है।

गाथाके अर्थमें अतिरिक्त विशेषण—

प्रस्तुत गाथाका अर्थ करते हुए उसमें आत्माके लिये पूर्व गाथा-प्रयुक्त 'नियत' और 'असंयुक्त' विशेषणोंको उपलक्षणसे ग्रहण किया जाता है, जो कि इस गाथामें प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इन्हीं अप्रयुक्त एवं अतिरिक्त विशेषणोंके ग्रहणसे शंका नं० ८ का सम्बन्ध है और उसमें यह जिज्ञासा प्रकट की गई है कि इन विशेषणोंका ग्रहण क्या मूलकारके आशयानुसार है? यदि है तो फिर १४वीं गाथामें प्रयुक्त हुए पाँच विशेषणोंको इस गाथामें क्रमभंग करके क्यों रखा गया है जब कि १४ वीं गाथाके पूर्वार्धको ज्योंका त्यों रख देने पर भी काम चल सकता था अर्थात् शेष दो विशेषणों 'अविशेष' और 'असंयुक्त' को उपलक्षण द्वारा ग्रहण किया जा सकता था? और यदि नहीं है तो फिर अर्थमें इनका ग्रहण करना ही अयुक्त है। इस शंका-को भी स्वामीजीने अपने प्रवचनमें छूआ तक नहीं है, और इसलिए इसके विषयमें भी वही बात कही जा सकती हैं, जो पिछली तीन शंकाओंके विषयमें कही गई है अर्थात् इस शंकाके विषयमें भी उन्हें कुछ कहनेके लिए नहीं होगा और इसीसे कुछ नहीं कहा गया।

यहाँ पर एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि कुछ अर्सा हुआ मुझे एक पत्र रोहतक (पू पंजाब) से डाक-द्वारा प्राप्त हुआ था जिस पर स्थान के साथ पत्र लिखनेकी तारीख तो है परन्तु बाहर भीतर कहींसे भी पत्र भेजने वाले सज्जनका कोई नाम उपलब्ध नहीं होता। संभवतः वे सज्जन बाबू नानकचन्दजी एडवोकेट जान पड़ते हैं, जो कि समयसारकी स्वाध्यायके प्रेमी हैं और उस प्रेमी होनेके नाते ही पत्रमें कुछ लिखनेके प्रयासका उल्लेख भी किया जाता है। इस पत्रमें आठवीं शंकाके विषयमें जो कुछ लिखा है उसे उपयोगी समझ कर यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"गाथा नं० १५ के पहले चरणमें जो क्रम भंग हैं वह बहुत ही रहस्यमय हैं। यदि गाथा नं० १५ में गाथा नं० १४ का पूर्वार्ध दे दिया जाता तो दो विशेषण अविशेष' और 'असंयुक्त' छूट जाते। ये विशेषण किसी दूसरे विशे-षणके उपलक्षण नहीं हो सकते। क्रमभंग करने पर दो विशेषण 'नियत' और 'असंयुक्त' छूटे हैं सो इनमेंसे 'नियत' विशेषण तो 'अनन्य' का उपलक्षण है। जो वस्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनन्य होती है वह 'नियत' अवश्य होती है इस कारण अनन्य कह देनेसे नियतपना आ ही गया। इस ही तरह अविशेष कहनेसे असंयुक्तपना आ ही गया! संयोग विशेषोंमें ही हो सकता है सामान्यमें नहीं—सामान्य तो दो द्रव्योंका सदा ही जुदा जुदा रहता है। संयुक्तपना किसी द्रव्यके एक विशेषका दूसरे द्रव्यके विशेषसे एकत्व हो जाना है। श्रीकुन्दकुन्दने क्रम भंग करके अपनी (निर्माण) कलाका प्रदर्शन किया है और गाथा नं० १५ में भी शुद्धनयके पूर्णस्वरूपको सुरक्षित रक्खा है। अविशेष और असंयुक्तका इस प्रकारका सम्बन्ध अन्य तीन विशेषणोंसे नहीं है जिस प्रकारका नियतका अनन्यसे असंयुक्तका अविशेषसे है।'

शुद्धात्मदर्शी और जिनशासन—

प्रस्तुत गाथामें आत्माको अबद्धस्पृष्टादि रूपसे देखने वाले शुद्धात्मदर्शीको सम्पूर्ण जिनशासनका देखनेवाला बतलाया है। इसीसे प्रथमादि चार शंकाओंका सम्बन्ध है। पहली शंका सारे जिनशासनको देखनेके प्रकार तरीके अथवा ढंग (पद्धति) आदिसे सम्बन्ध रखती है, दूसरीमें उस द्रष्टा द्वारा देखे जानेवाले जिनशासनका रूप पूछा गया है, तीसरीमें उस रूपविशिष्ट शासनका कुछ महान् आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनके साथ भेद-अभेदका प्रश्न है, और चौथीमे भेद न होनेकी हालतमें यह सवाल किया गया है कि तब इन आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी संगति कैसे बैठती है? इनमेंसे पहली, तीसरी और चौथी इन तीन शंकाओंके विषयमें प्रवचन प्रायः मौन है। उसमें बार-बार इस बातको तो अनेक प्रकारसे दोहराया गया है कि जो शुद्धआत्माको देखता—जानता है वह समस्त जिनशासनको देखता-जानता है अथवा उसने उसे देख-जान लिया; परन्तु उन विशेषणोंके रूपमें शुद्धात्माको देखने जानने मात्रसे सारे जिनशासनको कैसे देखता जानता है या देखने-जाननेमें समर्थ होता है अथवा किस प्रकारसे उसने उसे देख-जान लिया है, इसका कहीं भी कोई स्पष्टीकरण नहीं है और न भेदाऽभेदकी बातको उठाकर उसके विषयमें ही कुछ कहा गया है सिर्फ दूसरी शंकाके विषयभूत जिनशासनके रूप-विषयको लेकर उसीके सम्बन्धमें जो कुछ कहना था वह कहा गया है। अब आगे उसीपर विचार किया जाता है।

श्रीकानजी स्वामी महाराजका कहना है कि 'जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है' यह आपके प्रवचनका मूल सूत्र है जिसे प्रवचनलेखमें अग्रस्थान दिया गया है और इसके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि शुद्धात्मा और जिन शासनमें अभेद है—अर्थात् शुद्ध आत्मा कहो या जिनशासन दोनों एक ही हैं, नामका अन्तर है, जिनशासन शुद्धात्माका दूसरा नाम है। परन्तु शुद्धात्मा तो जिनशासनका एक विषय प्रसिद्ध है वह स्वयं जिनशासन अथवा समग्र जिनशासन कैसे हो सकता है? जिनशासनके और भी अनेकानेक विषय हैं, अशुद्धात्मा भी उसका विषय है, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नामके शेष पाँच द्रव्य भी उसके विषय हैं, कालचक्रके अवसर्पिणी उत्सर्पिणी आदि भेद-प्रभेदोंका तथा तीन लोककी रचना का विस्तृत वर्णन भी उसके अन्तर्गत है। वह सप्ततत्त्वों नवपदार्थों, चौदह गुणास्थानों, चतुर्दशादि जीवसमासों, षट्पर्याप्तियों, दस प्राणों, चार संज्ञाओं, चौदह मार्गणाओं द्विविध चतुर्विध्यादि उपयोगों और नयों तथा प्रमाणोंकी भारी चर्चाओं एवं प्ररूपणाओंको आत्मसात् किये अथवा अपने अंक (गोद) में लिए हुए स्थित है। साथ ही मोक्षमार्गकी देशना करता हुआ रत्नत्रयादि धर्म-विधानों, कुमार्गमथनों और कर्मप्रकृतियोंके कथनोपकथनसे भरपूर है। संक्षेपमें जिनशासन जिनवाणीका रूप है. जिसके द्वादश अंग और चौदह पूर्व अपार विस्तारको लिए हुए प्रसिद्ध हैं। ऐसी हालतमें जब कि शुद्धात्मा जिनशासनकी एकमात्र विषय भी नहीं है तब उसका जिनशासनके साथ एकत्व कैसे स्थापित किया जा सकता है? उसमें तो गुणस्थानों तथा मार्गणाओं आदिके स्थान तक भी नहीं हैं जैसा कि स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें प्रतिपादन किया है *। यहाँ विषयको ठीक हृदयङ्गम करने के लिए इतना और भी जान लेना चाहिए कि जिनशासनको जिनवाणी की तरह जिनप्रवचन जिनागम शास्त्र, जिनमत, जिनदर्शन, जिनतीर्थ, जिनधर्म और जिनोपदेश भी कहा जाता है—जैनशासन, जैनदर्शन और जैनधर्म भी उसीके नामान्तर हैं, जिनका प्रयोग भी स्वामीजीने अपने प्रवचन

* देखो, समयसार गाथा ५२ से ५५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में जिनशासनके स्थान पर उसी तरह किया है जिस तरह कि 'जिनवाणी' और 'भगवानकी वाणी' जैसे शब्दोंका किया है। इससे जिन भगवानने अपनी दिव्य वाणीमें जो कुछ कहा है और जो तदनुकूल बने हुये सूत्रों शास्त्रोंमें निबद्ध है वह सब जिनशासनका अंग है इसे खूब ध्यानमें रखना चाहिये।

अब मैं श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत समयसारके शब्दों में ही यह बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिनभगवानने अपनी वाणीमें उन सब विषयोंकी देशना (शास्ति) की है जिनकी ऊपर कुछ सूचना दी गई है। वे शब्द गाथाके नम्बर सहित इस प्रकार हैं:—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते ..... ॥ ५८ ॥
ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एसवण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छ्रयदण्हू ववदिसन्ति ॥ ६० ॥
पज्जत्ताऽपज्जता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलुसव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥
[illegible]वेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७ ॥
जावे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ जीवो ॥१०१ ॥
सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदएण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६३॥
तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१७०॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ॥२४८॥
आउदयेण जीविद जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ॥२५१
अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२
वद समिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३
ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४

इन सब उद्धरणोंसे तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्यने अपने प्रवचनसारमें जिनशासनके साररूपमें जिन जिन बातोंका उल्लेख अथवा संसूचन किया है उन सबको देखने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि एकमात्र शुद्धात्मा जिन शासन नहीं है, जिनशासन निश्चय और व्यवहार दोनों नयों तथा उपनयोंके कथनको साथ साथ लिये हुए ज्ञान, ज्ञेय और चरितरूप सारे अर्थ समूहको उसकी सब अवस्थाओं सहित अपना विषय किये हुए हैं।

यदि शुद्ध आत्माको ही जिनशासन कहा जाय तो शुद्धात्माके जो पाँच विशेषण—अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—कहे जाते हैं वे जिनशासनको भी प्राप्त होंगे। परन्तु जिनशासनको अबद्धस्पृष्टादिक रूपमें कैसे कहा जा सकता है? जिनशासन जिनका शासन अथवा जिनसे समुद्भूत शासन होनेके कारण जिसके साथ सम्बन्ध है जिस अर्थ समूहकी प्ररूपणाको वह लिये हुए है उसके साथ भी वह सम्बन्ध है, जिन शब्दोंके द्वारा अर्थ समूहकी प्ररूपणा की जाती है उनके साथ भी उसका सम्बन्ध है! इस तरह शब्द समय, अर्थसमय और ज्ञान समय तीनोंके साथ जब जिनशासनका सम्बन्ध है तब उसे अबद्धस्पृष्ट कैसे कहा जा सकता है। नहीं कहा जा सकता। और कर्मोंके बन्धनादि की तो उसके साथ कोई कल्पना ही नहीं बनती जिससे उस दृष्टिके द्वारा उसे अबद्धस्पृष्ट कहा जाय। 'अनन्य' विशेषण भी उसके साथ घटित नहीं होता; क्योंकि वह शुद्धात्माको छोड़कर अशुद्धात्माओं तथा अनात्माओंको भी अपना विषय किये हुए है अथवा यों कहिए कि वह अन्यशासनों मिथ्यादर्शनोंको भी अपनेमें स्थान दिये हुए हैं। श्री सिद्धसेनाचार्यके शब्दोंमें तो वह जिन प्रवचन 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' है, इतने पर भी भगवत्पदको प्राप्त है, अमृतका सार है और सर्व दुःखाधि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गम्य है. जैसाकि सन्मतिसूत्रके अन्तमें उसकी मंगलकामना के लिये प्रयुक्त किये गये निम्न वाक्यसे प्रकट है—

भद्दं मिच्छादंसण समूहमइयस्स अमियसारस्स ।
जिणवयणस्स भवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥३७०॥

इस तरह जिनशासनका 'अनन्य' विशेषण नहीं बनता। 'नियत' विशेषण भी उसके साथ घटित नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो सब जिनों—तीर्थंकरोंका शासन फोनोग्राफ-के रिकार्डकी तरह एक ही अथवा एक ही प्रकारका नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं कि जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुँहसे खिरी वही जँची-तुली दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकली हो—बल्कि अपने अपने समयकी परिस्थिति आवश्यकता और प्रतिपाद्योंके अनुरोधवश कथनशैलीकी विभिन्नताके साथ रहा कुछ कुछ दूसरे भेदको भी वह लिये हुए रहा है, जिसका एक उदाहरण मूलाचारकी निम्न गाथासे जाना जाता है—

वावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति ।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥७-३२॥

इसमें बतलाया है कि 'अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकरोंने 'सामायिक' समयका और ऋषभ-देव तथा वीर भगवानने 'छेदोपस्थापना' संयमका उपदेश दिया है।' अगली गाथाओंमें उपदेशकी इस विभिन्नताके कारणको, तात्कालिक परिस्थितियोंका कुछ उल्लेख करते हुए, स्पष्ट किया गया है तथा और भी कुछ विभिन्नताओं-का सकारण सूचन किया गया है। इस विषयका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये 'जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद' नामक वह लेख देखना चाहिए जो प्रथमतः अगस्त सन् १९१६ के 'जैन हितैषी' पत्रमें और बादको 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामक ग्रन्थके परिशिष्टमें 'क-ख' में परिवर्ध-नादिके साथ प्रकाशित हुआ है और जिसमें दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अनेक प्रमाणोंका संकलन है साथ ही, यह भी प्रदर्शित किया गया है कि उन भेदोंके कारण मुनियोंके मूलगुणोंमें भी अन्तर रहा है।

दूसरे जिनवाणीके जो द्वादश अंग हैं उनमें अन्तः कृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्न व्याकरण और दृष्टिवाद जैसे कुछ अंग ऐसे हैं जो सब तीर्थंकरोंकी वाणीमें एक ही रूपको लिये हुए नहीं हो सकते।

तीसरे, विविध नयभंगोंको आश्रय देने और स्याद्वाद-न्यायके अपनानेके कारण जिनशासन सर्वथा एक रूपमें स्थिर नहीं रहता—वह एक ही बातको कहीं कभी निश्चय नयकी दृष्टिसे कथन करता है तो उसीको अन्यत्र व्यवहार-नयकी दृष्टिसे कथन करनेमें प्रवृत्त होता है और एक ही विषयको कहीं गौण रखता है तो दूसरी जगह उसीको मुख्य बनाकर आगे ले आता है। एक ही वस्तु जो एक नयदृष्टिसे विधिरूप है वही उसमें दूसरी नयदृष्टिसे निषेध रूप भी है, इसी तरह जो नित्यरूप है वही अनित्यरूप भी है और जो एक रूप है वही अनेकरूप भी है इसी सापेक्ष नयवादमें उसकी समीचीनता संनिहित और सुर-क्षित रहती है; क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है। इसीसे उसका व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ या असत्यार्थ नहीं होता यदि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ होता तो श्री जिनेन्द्रदेव उसे अपनाकर उसके द्वारा मिथ्या उपदेश क्यों देते? जिस व्यवहारनयके उपदेश अथवा वक्तव्यसे सारे जैनशास्त्र अथवा जिनागमके अंग भरे पड़े हैं। वह तो निश्चयनयकी दृष्टिमें अभूतार्थ है, जब कि व्यवहारनयकी दृष्टिमें वह शुद्धनय या निश्चय भी अभूतार्थ—असत्यार्थ है जोकि वर्तमानमें अनेक प्रकारके सुदृढ़ कर्म बन्धनोंसे बँधे हुए, नाना प्रकारकी परतन्त्रताओंको धारण किये हुये, भवभ्रमण करते और दुःख उठाते हुए संसारी जीवात्माओंको सर्वथा कर्मबन्धनसे रहित अबद्धस्पृष्टादिके रूपमें उल्लेखित करता है और उन्हें पूर्णज्ञान तथा आनन्दमय बतलाता है, जो कि प्रत्यक्षके विरुद्ध ही नहीं किन्तु आगमकेभी विरुद्ध है आगममें आत्माके साथ कर्मबन्धनका बहुत विस्तारके [illegible] वर्णन है। जिसका कुछ सूचन कुन्दकुन्दके समयसारके ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। यहाँ प्रसंगवश इतना और प्रकट किया जाता है कि शुद्ध या निश्चयनयको द्रव्यार्थिक और व्यवहारनयको पर्यार्थिकनय कहते हैं। ये दोनों मूलनय पृथक रह कर एक दूसरेके वक्तव्यको किस दृष्टिसे देखते हैं और उसदृष्टिसे देखते हुए सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि, इसका अच्छा विवेचन श्री सिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रकी निम्न गाथाओंमें किया है—

दव्वट्ठिय वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जवत्थ अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥१०॥
उप्पज्जंति वियंतिय भावा पज्जवणयस्स ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऋषभदेव और शिवजी

(ले० श्रीयुत बा० कामताप्रसाद जैन एम०आर०ए०एस० एल)

इत्थं प्रभात्र ऋषभोऽवतार शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तवनः ॥ ४७ ॥

—शिवपुराण

'शिवपुराण'के रचियता कहते हैं कि इस प्रकार ऋषभावतार होगा, जो मेरे लिए शंकर शिव हैं। वह सत्पुरुषोंके लिये सत्यपथ रूप नवमें अवतार और दीनबन्धु होंगे' इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि शिवजीका अलंकृतरूप मूलतः ऋषभदेवजीके तेज और तपस्याका काव्यमयी वर्णन हैं। वैदिक ऋषियोंने ऋषभदेवकी उग्र तपस्याको मूर्तिमयी बनानेके लिए एवं उसे ही अमृतत्व पा का कारण जतानेके लिये उसे 'शिव' के नामसे पुकारा है। वेदोंमें 'शिव' नामके देवताका पता नहीं। यह अभाव इसीलिये कि ऋषभ अवैदिक श्रमण परम्पराके अग्रणी थे। जब वैदिक आर्योंने श्रमणोपासक जातियोंसे मेलजोल पैदा किया तब वैदिक परम्परामें नये नये देवता भी लिये गये। शिव, ब्रह्मा और विष्णु प्रतीकवादके द्योतक हैं। उपरान्त क्षत्रियोंके प्रभावमें अवतारबादको वैदिकपुरोहितोंने अपनाया. जिससे राम और कृष्णकी पूजा प्रचलित हुई। प्रतीकवादमें ऋषभको शिवका रूप दिया गया। यहाँ हमें यही देखना अभीष्ट है।

भ० ऋषभने कैलाशपर्वत पर उग्र तप तपा था। एक बार देव बालाओंने उनकी तपस्या भंग करनेके लिए कामदेवके बाणोंका प्रयोग किया था; किन्तु ऋषभदेव अचल रहे और अन्तमें उन्होंने कामको ही नष्ट कर दिया। उसके साथ ही मन-वचन काय दण्ड द्वारा उन्होंने त्रिग्रन्थियोंका पूर्णनाश कर दिया कि वह 'निर्ग्रन्थ' हो गये। पूर्व संचित कर्म जो शेष रहे थे, उनको भी उन्होंने भस्म कर दिया था। परिणाम स्वरूप वह कैवल्यपति सच्चिदानन्द, जीवन्मुक्त परमात्मा शिव होकर चमके। उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की—इसलिए 'वृष' (बैल) उनका चिन्ह माना गया! संक्षेपमें ऋषभदेवजीकी तपस्याकी यह तालिका है।

अब पाठक, आइये शिवजीके चरित्र चित्रण पर दृष्टिपात कीजिये। वह देव हैं—आप्त हैं और हैं पूज्य। अतः उनके चरित्रमें ऐसी बात तो नहीं आ सकती जिसे साधारणतः मानव समाजमें दुराचार माना जाता है। शिव देव हैं—आराध्य हैं, तो वह एक सामान्य लम्पटी पुरुषकी तरह कामी नहीं हो सकते; इतने उग्र कामरत कि उनके शिश्नकी उत्तेजनाको शान्त रखनेके लिये पूर्ण कुम्भसे शीतल जल विन्दु हर समय टपकती रहे। इसके साथ कोई भी समझदार पुरुष यह नहीं मान सकता कि शिव मद्यपायी और भंगड़ी थे। वह इतने क्रोधी थे कि उन्होंने भस्मासुरको नगरों सहित भस्म कर दिया और पार्वतीजीको संग लिये फिरे! न वह इतने भयंकर थे कि विष खा जाते! उनके देवत्वके समक्ष ये बातें अशोभन दिखती हैं। फिर एक अचम्भेकी बात है कि रेणुका मरकर जीवित हुई भी उनके प्रसंगमें कही गई है! इस बुद्धिवादीयुगमें अन्धश्रद्धाके लिये कोई स्थान नहीं है। अतएव शिवजीके विषयमें उक्त बातें जो कही गई हैं उनको शब्दार्थमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनसे शिवजीकी महत्तामें बट्टा आता है। वे अलङ्कार हैं और अलङ्कारका घूँघट उठाकर हमें उनके मूल स्वरूपका दर्शन करना उचित है।

लगभग दो हजार वर्ष पहलेका लिखा हुआ एक पत्रक Letter of Aristeas) विद्वानोंको मिला है। उसमें लिखा है प्राचीनकालमें एक चित्र शैली (Symbolic) की भाषा और लिपि (Pictographic-language and script) का प्रचलन था। विद्वान ऋषि लोग उस शैलीका आश्रय लेकर अध्यात्मवादका निरूपण किया करते थे, जिसे वह अपने शिष्योंको बता देते थे। गुरु शिष्य परम्परासे यह रहस्यवाद मौखिकप्रणाली द्वारा धारावाही चलता रहा। किन्तु एक समय आया जब इस रहस्यको लोग भूल गये! 'अनर्थका हि मन्त्रः' की बात वैदिक टीकाकारोंको बरबस कहनी पड़ी! बाइबिलमें विद्वानोंको इसलिये धिक्कारा गया कि उन्होंने ज्ञानकी कुंजीको खो दिया। (Woe into ye lawyers ye have lost the 'key of knowleodge) इस साक्षीसे शिवजीका अलंकृत रूप स्पष्ट भाषता है और 'शिवपुराण' के रचयिता उन्हें ऋषभा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वतार कहते हैं। वह इसलिये कि ऋषभ आदिकालसे एक महान तपस्वी रहे और वैदिक ऋषियोंको उनकी तपस्याका बखान अलंकृतभाषामें करना अभीष्ट रहा। किन्तु उनके इस रहस्यपूर्ण स्वरूपको जानने वाले लोगोंका अभाव एक बहुत पहले जमानेसे हो गया। महा-कवि कालीदासजी इस सत्यसे परिचित थे। इसलिये ही उन्होंने कहा कि 'शिवको यथार्थ रूपसे जानने वाले और अनुभव करने वाले मनुष्य कम हैं!' (न संति याथार्थविदः पिनाकिनः) कुमारसम्भव ५/७७) प्रतीकवादको समझ लेना हर एकका काम नहीं। प्रतीक अथवा अलंकारका सहारा इसलिये लिया गया प्रतीत होता है कि अध्यात्मिक सत्यकी ओर हर किसीकी रुचि नहीं होती। वैदिक क्रियाकांडमें व्यस्त लोगोंमें जिनको पात्र पाया उन्हींको यह रहस्य बताया गया।

जैन शास्त्रकारोंने स्पष्ट लिखा है कि ऋषभदेवने कैलाश पर्वत पर घोर तपस्या की थी। जिस समय वह तपस्यारत हो आत्मध्यानमें मग्न थे उस समय सुरांगनाओंने उनके शीलकी परीक्षा ली थी; परन्तु ऋषभ तो वासनाको जीत चुके थे और समाधिमें लीन थे। कामदेवके बेधक बाण उन्हें समाधिसे च्युत न कर सके—उल्टे उन्हें शरीर मन्दिरमें स्थित परमात्मतत्वके दर्शन करानेमें वह साधक बने१। वैदिक परम्परामें स्पष्ट कहा गया है कि शिवने कामदेवको भस्म कर दिया था। पावतीने जब रति वल्लभको यों नष्ट होते देखा तो उन्होंने माना कि शिवको पानेके लिये सुन्दरता पर्याप्त नहीं है। अतएव उन्होंने तप द्वारा आत्मसमाधि लगाना निश्चित किया, क्य कि समाधिकी पूर्णता ही शिवतत्वको प्राप्त कराती है२।

१ चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पांतका लमरुता चलिताचलेन,
किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥५॥
—भक्तामरस्तोत्र

२ तथा समक्षं दहता मनोभवं,
पिनाकिना भग्नमनोरथा सति।
निनिंद रूपं हृदयेन पार्वती,
प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता ॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां,
तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने 'पार्वती' को प्रतीक मानकर उसके रहस्यको स्पष्ट किया है३। उन्होंने लिखा कि मानवशरीरमें मेरुदण्डकी रचना तैंतीस पर्वोंके संयोगसे हुई है। 'पर्व' जिसमें हो उसीको 'पर्वत' कहते हैं। 'पर्वाणि संति अस्मिन् ति पर्वतः'। इसीलिये मेरुदण्ड पर्वत हुआ और इसके भीतर रहने वाली शक्तिको उपचारसे 'पर्वत राजपुत्री' या 'पार्वती' कहा जाता है। इस पार्वतीकी स्वाभाविक गति शिवकी ओर है। पार्वती शिवको छोड़कर और किसीका वरण कर ही नहीं सकती। परन्तु पार्वतीको शिवकी सम्प्राप्ति तपके द्वारा ही हो सकती है, भोगके मार्गसे नहीं। अर्थात्—छद्मस्थावस्थामें जब 'शिवत्व' पानेके लिए उन्मुख थे उस समय काययोगकी साधनाके लिए उन्होंने तपका आश्रय लिया था। कायगुप्तिका पालन करके कायाजनित कमजोरीको जीतकर उन्होंने पर्वतीय (मेरुदण्ड में सुप्त) शक्तिको जागृत किया था। इसीलिये अलंकृत भाषामें कहा जाता है कि शिव-पार्वतीका विवाह हुआ था! वस्तुतः वह उक्त प्रकारका एक रहस्यपूर्ण प्रतीक ही है।

शिवका मुख्य कर्म संहार माना है। निस्सन्देह सांसारिक प्रवृत्तिका संहार किये बिना निवृत्तिमार्गका पर्यटक नहीं बनाया जा सकता। ऋषभदेवने प्रवृत्तिका मार्ग त्यागा था और योगचर्याको अपनाया था। कर्म-प्रकृतियोंका सम्पूर्ण संहार करके ही वह शिवत्वको प्राप्त हुए थे। इसलिये उन्हें शिव कहना ठीक है।

शिवलिङ्गपूजाका अर्थ अध्यात्मकरूपमें अमृतत्वको पा लेना है, किन्तु आज कोई भी इस मूढ़ार्थको नहीं समझता विषयी लोग उसमें वासनाकी छाया देखते हैं। वस्तुतः वह अमृत आनन्दका बोधक है। प्राचीन भारतीय मान्यतामें मस्तिष्कको कलश या कुम्भ कहा गया है। मस्तिष्कसे निरन्तर अमृतका क्षरण होता रहता है, जिसे योगीजन पीकर अध्यात्मिकतामें निमग्न हो जाते हैं और विष यी

३ डा० सा० ने कल्याणमें 'शिवका स्वरूप' शीर्षक लेख प्रकट करके शिव-प्रतीकका रहस्योद्घाटन किया है। उनके इस लेख आधारसे ही यह विवेचन किया जा रहा है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष वासनामें फँसकर उसका दुरुपयोग कर डालते हैं। इस उल्लेखसे ब्रह्मचर्यमय योगनिष्ठाकी पुष्टि होती है। ऋषभ पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर अमृत्वको पान करके ही शिवरूप बने थे। रेणु वीर्यके दुरवस्थित होने पर उसको ब्रह्मचर्य द्वारा ही उर्जस्वरेत करके जीवित बना दिया जाता है। ऋषभ अनन्तवीर्यके भोक्ता इसी प्रकार हुये थे। रेणुकाके पुनर्जीवन पानेका रहस्य यही है।

शिवके विषपानका रहस्य भी ऋषभकी योगचर्यामें छिपा हुआ है। निघण्टुमें जलके १०१ नाम दिए गए हैं। उनमें विष और अमृत भी जलके पर्यायवाची शब्द हैं एवं वीर्य या रेत भी जलका ही रूप है। अतः वीर्यसे दैवी और आसुरी अर्थात् अमृत रूप और विषरूप शक्ति प्रकट होती है। आत्मविनाशकी प्रवृत्ति आसुरीशक्ति विषरूपकी द्योतक है शिवने उसे जीत लिया था। पुण्य और पाप रति और अरति सब पर ऋषभने विजय पायी थी। अतः शिवका विषपानप्रसंग उनकी समवृत्तिका द्योतक है, जिसमें आसुरी वृत्ति पछाड़ दी गई थी।

भस्मासुरके त्रिपुर शरीरके बाहर नहीं थे। वह मानवकी मनवचन कायिक योगक्रियाएँ थी, जिन पर अधिकार पाये बिना कोई भी योगी जीवन्मुक्त परमात्मदशाको नहीं पा सकता। ऋषभदेवने मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड द्वारा इन त्रिपुरियोंको जीत लिया था उनकी अधोवृत्तिको नष्ट कर दिया था। इसीलिये उन्हें शिव कहकर याद किया गया है।

ऋषभकी तरह ही शिव दिगम्बर कहे गये हैं। शिव त्रिशूलधारी थे। भारतीय पुरातत्वमें त्रिशूल चिह्नका प्रयोग पहले पहले जैनोंने किया था[1]। ईस्वी पूर्व दूसरे शताब्दिके हाथीगुफा लेखमें वह मिलता है और कुशाणकालीन जिनमूर्तियोंके आसनमें त्रिशूल पर ही धर्मचक्रका चित्राङ्कण किया गया है[2]। अतः त्रिशूल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मका प्रतीक है, जिसके द्वारा संसार-व्यालको छेद दिया जाता है। शिवके रूपमें सर्पोंका प्रयोग मिलता है। जैन परम्परामें सर्पका विशिष्ट स्थान है। प्राचीनकालमें कुछ लोग उसे ज्ञानका प्रतीक मानते थे, जो अज्ञानके लिये कालरूप था। ऋषभदेव अनन्तज्ञानके भोक्ता थे जिसके फलस्वरूप ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई थी। शिवजीकी जटामें गंगाका वास माना ही जाता है। ऋषभमूर्तियोंकी यह एक विलक्षणता है कि उनके कन्धों पर जटायें उत्कीर्ण की जाती हैं। शिववाहन वृष (बैल) ही ऋषभका भी चिह्न है। इस प्रकार 'शिवपुराण' के उक्त श्लोकमें जो ऋषभको शिव कहकर उल्लेखित किया है, वह सार्थक है। भारतीय परम्परामें यह विश्वास एक समय प्रचलित रहा प्रतीत होता है कि ऋषभ ही शिव हैं, क्योंकि साहित्यके साथ साथ शिवकी ऐसी मूर्तियाँ भी बनाई गईं, जो बिल्कुल ऋषभ मूर्तिसे मिलती-जुलती हैं। इन्दौर संग्रहालयमें इस प्रकारकी एक मूर्ति है। उसका चित्र यहाँ मध्यभारत पुरातत्व विभागके सौजन्यसे उपस्थित किया जाता है। पाठक उसे देखकर यह भ्रम न करें कि वह जैन मूर्ति है। यह शिवकी मूर्ति है, परन्तु उसका परिवेष जिनमूर्तिके अनुरूप है। यह होना कुछ विचित्र नहीं? क्योंकि ऋषभको ही ब्राह्मणों-शिव और जैनोंने पहला तीर्थंकर माना था।

---

१ श्री रविषेणाचार्यने जिनेन्द्रके लिए लिखा था कि शुद्धलेश्यारूपी त्रिशूलसे मोहरिपुको नष्ट कर दिया है 'शुद्धलेश्यात्रिशूलेन मोहनीयरिपुर्हतः।'

२ 'बंगाल, बिहार, उड़ीसाके जैन स्मारक' और श्रीमहावीरस्मृतिग्रन्थ पृष्ट २२७–२२९ में देखें।

अनेकान्तको २५१) रुपया प्रदान करने वाले संरक्षकों और १०१) रुपया देने वाले स्थायी सहायकों को सदा अनेकान्त भेंट स्वरूप दिया जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

(गत किरण पाँच से आगे)

सोनगढ़ गुजरातमें एक छोटासा कस्बा है। पहले सोनगढ़को कोई नहीं जानता था। परन्तु अब सोनगढ़के नामसे भारतका प्रायः प्रत्येक जैन परिचित है। प्रस्तुत सोनगढ़ गुजरातके संत कानजी स्वामीके कारण जैनधर्मका एक केन्द्रसा बन गया है। कानजी स्वामीके उपदेशोंसे प्रभावित होकर काठियावाड़ गुजरातके ५ हजार व्यक्तियोंने दिगम्बर धर्मको अपनाया है। इस प्रान्तमें जो कार्य कानजी स्वामीने किया है वैसा कार्य अन्यने नहीं किया। सोनगढ़में दिगम्बर जैनियोंके ११० घर विद्यमान है जिनकी संख्या लगभग ४०० के करीब है। ये सभी कुटुम्ब यहाँ पर अपना संयमी जीवन विता कर कानजी स्वामीके उपदेशोंसे लाभ उठा रहे हैं। उनका रहन-सहन सादा और आहारादि सात्विक है। सामायिक, स्वाध्याय, प्रवचन, भक्ति और शंकासमाधान जैसे सत्कार्योंमें समय व्यतीत होता है। उक्त स्वामीजीके उपदेशोंसे वहाँकी जनता प्रेरित है। इस कारण उनके हृदयमें जैनधर्मके प्रचारकी बलवती भावना जाग्रत है। वहाँसे अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थोंका गुजराती और हिन्दीमें प्रकाशन हुआ है। उन्हींकी प्रेरणाके फलस्वरूप सोनगढ़ जैसे स्थानमें निम्न ८ संस्थाएँ चल रही हैं। १ सीमंधरस्वामीका मन्दिर। २ श्रीसीमंधरस्वामीका समोसरण, समोसरणमें कुन्दकुन्दाचार्य हाथ जोड़े खड़े हुए हैं। ३ स्वाध्यायमन्दिर, ४ कुंदकुन्दमण्डप,— जिसमें ३२ अलमारियोंमें जैनसाहित्य भरा पड़ा है। ५ श्राविकाशाला। ६ अतिथिग्रह, जिसमें बाहरके आगन्तुक व्यक्तियोंके लिए भोजनादिकी व्यवस्था है। ७ गोग्गीदेवी दि० जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम, जिसे सेठ तुलाराम वच्छराजजी कलकत्ताने डेढ़लाख रु० लगा कर बनवाया है। इसीमें ब्रह्मचारिणी शान्ताबहिन अध्यापनादि कार्य कराती हैं। संगमर्मरका एक सुन्दर मानस्तम्भ,—जिसकी प्रतिष्ठा अभी हालमें सम्पन्न हुई है। स्वाध्याय मन्दिरमें कानजी स्वामीका दो बार प्रवचन एक एक घंटे होता है; प्रवचनके समय प्रवचनमें निर्दिष्ट ग्रन्थ श्रोताओंके सामने होते हैं जिससे विषयको समझनेमें सुविधा होती है। प्रवचनकी आमभाषा गुजराती होती है किन्तु हिन्दी भाषियोंके आने पर प्रवचन हिन्दीभाषामें भी होने लगता है। प्रवचन सरल और वस्तुतत्त्वके विवेचनको लिये हुए होता है हम लोगोंने प्रवचन सुने, और यह अनुभव भी किया कि सोनगढ़में मुमुक्षुका समय व्यर्थ नहीं जाता समयकी उपयोगिताके साथ अध्यात्मग्रन्थोंके अध्ययन और तत्त्वचर्चाके सुननेका भी यथेष्ट अवसर मिलता है। मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके साथ उपादान और निमित्त-सम्बन्धी चर्चा भी चली, तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर भी हुए। परन्तु अन्तिम निश्चयात्मक कोई निष्कर्ष नहीं निकला। केवल इतना कहने मात्रसे कि 'मूलमें भूल है' काम नहीं चल सकता; क्योंकि वस्तुतत्त्वकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं। इनके विना किसी वस्तुकी निष्पत्ति नहीं होती। आचार्य समन्तभद्रने 'निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः' वाक्यमें वस्तुकी उत्पतिमें दोनोंको मूलहेतु माना है। इतना ही नहीं किन्तु उपादान और निमित्तको द्रव्यगत स्वभाव भी बतलाया * है। यह सब होते हुए भी सोनगढ़में अध्यात्मचर्चाका प्रवाह बराबर चल रहा है। उपादान निमित्तके सम्बन्धमें जिज्ञासुभावसे वस्तुका निर्णय कर तद्विषयक गुत्थीका सुलझा लेना चाहिए। कानजी स्वामी भी दोनोंकी सत्ताको स्वीकार तो करते ही हैं। अतः इस सम्बन्धमें विशेष ऊहापोहके द्वारा विषयका निर्णय करलेनेमें ही बुद्धिमत्ता है। क्योंकि एकान्त ही वस्तुतत्त्वकी सिद्धिमें बाधक है, अतः एकान्त दृष्टको छोड़ कर अनेकान्तको अपनाना ही श्रेयस्कर है। यहां हम लोग दो-तीन दिन ठहरे, समय बड़ा ही आनन्दसे व्यतीत हुआ। सोनगढ़से हम लोग पालीताना (शत्रुंजय) की यात्राको गये।

शत्रुंजयका दूसरा नाम पुण्डरीक कहा जाता है। यह क्षेत्र दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें मान्य

---

* बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवाऽन्यथा मोक्ष विधिश्च पुंसां
तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥ स्वयंभूस्तोत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। युधिष्ठिर भीम और अर्जुन इन तीन पाण्डवोंने तथा अनेक ऋषियोंने शत्रुंजयसे मुक्तिलाभ किया है। गुजरातके राजा कुमारपालके समयमें इस क्षेत्र पर लाखों रुपए लगाकर मन्दिरोंका जीर्णोद्धार किया गया था, तथा नूतन-मन्दिरोंका निर्माण भी हुआ है। कुछ मन्दिर विक्रमकी ११-१२ वीं शताब्दीके बने हुए हैं और शेष मन्दिर १५-वीं शताब्दीके बादमें बनाए गए हैं। यहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदायके सहस्र मन्दिर हैं। इन मन्दिरोंमें कई मन्दिर कलापूर्ण हैं। इनमें जो मूर्तियाँ विराजमान हैं उनकी उस प्रशान्त मूर्ति कलामें सरागता एवं गृही जीवन जैसा रूप नजर आने लगा है—वे चाँदी-सोने आदिके अलंकारों और वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हैं—नेत्रोंमें कांच जड़ा हुआ है। जिससे दर्शकके हृदयमें वह विकृत एवं अलंकृतरूप भयंकर और आत्म दर्शनमें बाधक तो है ही, साथही, मूर्तिकलाके उस प्राचीन उद्देश्यके प्रतिकूल भी है जिसमें वीतरागताके पूजनका उपदेश ग्रन्थोंमें निहित है। जैन मूर्तिकलाका यह विकृत रूप किसी तरह भी उपादेय नहीं हो सकता, यह सब सम्प्रदायके व्यामोहका परिणाम जान पड़ता है।

उक्त श्वेताम्बर मन्दिरोंके मध्यमें एक छोटासा दिगम्बर मन्दिर विद्यमान है, जो पुरातन होते हुए भी उसमें नूतन संस्कार किया गया प्रतीत होता है। परन्तु मूर्तियाँ १७ वीं शताब्दीके मध्यवर्ती समयकी प्रतिष्ठित हुई विराजमान हैं। मूलनायककी मूर्ति सं० १६४१ की है। एक मूर्ति सं० १६६१ की भी है और अवशिष्ट मूर्तियाँ सं० १८-६३ की विद्यमान हैं। मूल नायककी मूर्ति विशाल और चित्ताकर्षक है। ये सब मूर्तियाँ हूमडवंशी दिगम्बर जैनोंके द्वारा प्रतिष्ठित हुई हैं। मन्दिरका स्थान अच्छा है। पूजनादिकी भी व्यवस्था है। पहाड़ पर चढ़नेके लिए नूतन सीढ़ियोंका निर्माण हो गया है जिससे यात्री विना किसी कष्टके यात्रा कर सकता है।

पहाड़के नीचे भी दर्शनीय श्वेताम्बर मन्दिर हैं उन सबमें सागरानन्द सूरि द्वारा निर्मित आगम मन्दिर है, जिसमें श्वेताम्बरीय आगम-सूत्र संगमर्मरके पाषाण पर उत्कीर्ण किए गये हैं। उनमें अंग उपांग भी खोदे गए हैं। पालीतानामें ठहरनेके लिए धर्मशाला बनी हुई है। जिसमें यात्रियोंको ठहरनेकी सुविधा है। शहरमें भी दिगम्बर मन्दिर हैं। पालीतानासे हम लोग सोनगढ़ आए। और वहांसे पुनः अहमदाबाद आकर पूर्वोक्त प्रेमचन्द्र मोतीचन्द्र दि०जैन बोर्डिङ्ग हाउसमें ठहरे। अगले दिन संघ रेलवेसे तारंगाके लिये रवाना हुआ। क्योंकि तारंगाका रास्ता रेतीला अधिक होनेसे लारीके फंस जानेका खतरा था। जयपुर वालोंकी लारियाँ धँस गईं थीं, इस कारण उन्हें परेशानी उठानी पड़ी थी। अत परेशानीसे बचनेके लिये रेलसे जाना ही श्रेयस्कर समझा गया।

इस क्षेत्रका तारंगा नाम कब और कैसे पड़ा? यह कुछ ज्ञात नहीं होता। इसकी प्राचीनताके द्योतक ऐतिहासिक प्रमाण भी मेरे देखनेमें नहीं आए। मूर्तियाँ भी विशेष पुरानी नहीं हैं। निर्वाणकाण्डकी निम्न प्राकृत गाथामें 'तारवरणयरे' पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ 'तारापुर' नामका नगर होना चाहिये। परन्तु उसका तारंगारूप कैसे बन गया? यह अवश्य विचारणीय है।

वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे [णियडे]।
आहुट्ठ य कोड आ णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

इस गाथामें तारापुरके निकटवर्ती स्थानसे वरांग, सागरदत्त, वरदत्तादि साढ़े तीन करोड़ मुनियोंका निर्वाण होना बतलाया गया है। इसमें जो यहाँ वरांग वरदत्त और सागरदत्तका निर्वाण बतलाया, वह ठीक नहीं है; क्योंकि वरांग मोक्ष नहीं गया और वरदत्तका निर्वाण अवश्य हुआ है पर वह आनर्तपुर * देशके मणिमान पर्वत पर हुआ है तारापुर या तारपुरमें नहीं। तथा सागरदत्तके निर्वाणका कोई उल्लेख अन्यत्र मेरे देखनेमें नहीं आया। वरांगके स्वर्गमें जानेका जो उल्लेख है—वह उसी मणिमान पर्वतसे शरीर छोड़कर सर्वार्थ सिद्धि गए। जैसाकि जटासिंहनन्दीके ३१वें सर्गके वरांगचरितके निम्न पद्यसे प्रकट हैं।

कृत्वा कषायापशमं क्षणेन
ध्यानं, तथाद्यं समवाप्य शुक्लम्।
यथापशान्तप्रभवं महात्मा
स्थान समं प्राप वियोगकाले॥१०५

* महाभारत और भागवतमें आनर्त देशका उल्लेख किया गया है और वहाँ द्वारकाको आनर्त देशमें बतलाया है।

* द्वारकाके पासवर्ती देशको भी आनर्तदेश कहा गया है। देखो पद्मचन्द्र कोष पृ० ८७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मावशेषप्रतिबद्धहेतोः,
स निर्वृतिं नापदनो महात्मा।
विमुच्य देहं मुनि (सुवि) शुद्धलेश्यः
आराधयन्त (नान्त) भगवाञ्जगाम।
यथैव वीर प्रविहाय राज्यं,
तपश्च सत्संयम माचचार।
तथैव निर्वाण फलावसानां, (नं)
लोक (कं) प्रतिष्ठां (प्रतस्थौ) सुरलोकमूर्धिन ॥

विक्रमकी १५वीं शताब्दीके विद्वान भट्टारक उदय कीर्तिने अपनी 'निर्वाणभक्ति में निर्वाण स्थानोंका वर्णन करते हुए उक्त निर्वाणभूमिको तारापुर ही बतलाया तारंगा नहीं, जैसा कि उसके निम्न पद्यसे स्पष्ट है :—

'तारापुर वंदउ जिणवरेंदु, आहूठ कोडिकिउ सिद्ध संगु।'

इन सब समुल्लेखों परसे भी मेरे उस अभिमतकी पुष्टि होती है। ऐसी स्थितिमें उक्त 'तार उर' या तारापुर तारंगा नहीं कहा जा सकता। निर्वाणकाण्डकी उस गाथा-का क्या आधार है ? और उसकी पुष्टिमें क्या कुछ ऐतिहासिक तथ्य है यह कुछ समझमें नहीं आया। यहां दो दिगम्बर मन्दिर हैं, जिनमेंसे एक सम्वत् १६११ का बनाया हुआ है और दूसरा सं० १६२३ का। इससे पूर्व वहां कितने मन्दिर थे, यह वृत्त अभी अज्ञात है।

तारंगासे अहमदाबाद वापिस आकर हम लोग 'पावागढ़' के लिए रवाना हुए। यहाँ आकर धर्मशालामें ठहरनेको थोड़ी सी जगह मिल गई। पावागढ़की अन्य धर्मशालाओंमें ललितपुर आदि स्थानोंके यात्री ठहरे हुए थे।

पावागढ़ एक पहाड़ी स्थान है। यहाँ एक विशाल किला है। और यह ऐतिहासिक स्थान भी रहा है। धर्मशालाके पास ही नीचे मन्दिर है। शिलालेखोंमें इसका 'पावकगढ़' नामसे उल्लेख मिलता है। चन्दकविने पृथ्वीराजरासे' में पावकगढ़के राजा रामगौड़ तुआर या तोमरका उल्लेख किया है। सन् १३०० में उस पर चौहानराजपूतोंका अधिकार हो गया था, जो मेवाड़के रणथंभोरसे सन् १२११ या १३०० में भाग कर आये थे। सन् १४८४ में सुलतान महमूद बेगड़ने चढ़ाई की, तब जयसिंहने वीरता दिखाई, अन्तमें सन्धि हो गई। उसके बाद सन् १५३५ में मुगलबादशाह हुमायूंने पावकगढ़ पर कब्जा कर लिया* फिर सन् १७३७ में कृष्णजीने उसे अपने अधिकारमें ले लिया। तथा सन् १७६१ अथवा १७७० में सिंधियाने कब्जा कर लिया। उसके बाद सन् १८५३ [वि० सं० १९१०] में अंग्रेज सरकारने उसे अपने आधीनकर लिया। इस पहाड़के नीचे उत्तर पूर्वकी ओर राजशू चाँपानेरके खण्डहर देखने योग्य हैं और दक्षिणकी ओर अनेक गुफाएँ हैं जिनमें कुछ समय पूर्व हिन्दु साधु रहा करते थे। पहाड़ पर तीन मीलकी चढ़ाई और उतनी ही उतराई है।

पावागढ़के नीचे चांपानेर नामका नगर बसा हुआ था जिसे अनहिल बाड़ाके वनराज के राज्यमें (७४६–८०६ में एक चंपा बनियेने बसाया था। सन् १५३६ तक यह गुजरातकी राजधानी रहा है।

पहाड़के ऊपर कुछ मन्दिरोंके भग्नावशेष पड़े हुए हैं। छटवें फाटकके बाहरकी भीतमें डेढ फीटके करीब ऊँचाई-को लिये हुए एक पद्मासन दिगम्बर जैन प्रतिमा उत्कीर्ण है जिसके नीचे सं० ११३४ अँकित हैं। ऊपर चढ़ने पर रास्तेसे बगलमें नीचेको उतरके दो कमरे बने हुए हैं। उसके बाद ८३ सीढ़ी नीचे जाकर मांचीका दरवाजा आता है वहाँ एक छोटा सा मकान पहरे वालोंके ठहरनेके लिए बना हुआ प्रतीत होता है। ऊपर जीर्ण मन्दिरोंके जो भग्नावशेष पड़े हैं उन्हींमेंसे ३-४ मन्दिरोंका जीर्णोद्धार किया गया है। मन्दिरोंमें विशेष प्राचीन मूर्तियाँ मेरे अवलोकनमें नहीं आईं। विक्रमकी १६ वी १७ वीं शताब्दीसे पूर्वकी कोई मूर्ति उनमें नहीं हैं। एक मूर्ति भगवान पार्श्वनाथकी सं० १५४८ की भट्टारक जिनचन्द्र और जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित विराजमान हैं उपलब्ध मूर्तियोंमें प्रायः सभी मूर्तियाँ मूलसंघ बलात्कारगणके भट्टारक गुणकीर्तिके पट्टधर शिष्य भ० बदिभूषण द्वारा प्रतिष्ठित स० १६४२, १६४५ और १६६५ की हैं। भगवान महावीरकी एक मूर्ति सं० १६६६ की भ० सुमतिकीर्तिके द्वारा प्रतिष्ठित मौजूद है।

ऊपरके इस सब विवेचन परसे यह स्थान विक्रमकी ११ वीं १२ वीं शताब्दीसे पुराना प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कि वह इससे भी पुरातन रहा हो। यहाँ संभवतः डेढ़ सौ वर्षके करीबका बना हुआ कालीका एक मन्दिर भी है। सीढ़ियोंके दोनों ओर कुछ जैन मूर्तियां लगी हुई

* देखो अकबर नामा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं, जो जैनियोंके प्रमाद और धार्मिक शिथिलताकी द्योतक हैं। क्या जैन समाज अपनी गाढ़ निन्द्राको भंग कर पुरातत्वके संरक्षणकी ओर ध्यान देगा ?

निर्वाणकाण्डमें * इस पावागढ़क्षेत्रसे रामचन्द्रजीके दोनों पुत्र लव कुश तथा लाडदेशके राजा और पाँच करोड़ मुनियोंके निर्वाणका पवित्र स्थान बतलाया गया है इस सम्बन्धमें भी अन्वेषणकी आवश्यकता है।

पावागढ़से चल कर हम लोग नंतरोड़ होते हुए दाहोद पहुँचे, और दि० जैन बोर्डिंग हाउसमें ठहरे। वहाँ पण्डित हरिश्चन्दजीने हम लोगोंके ठहरनेकी व्यवस्था की। नशियांजीका स्थान सुन्दर है वहाँ भगवान महावीर स्वामीकी एक मनोज्ञ एवं विशाल मूर्तिके दर्शन कर चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई और सफरके उन सभी कष्टोंको भूल गए जो सफर करते हुए उठाने पड़े।

दाहोद सन् १४१६ (वि० स० १४७६) तक बाहरिया राजपूतोंके आधीन रहा। किन्तु सुलतान अहमदने राजा डूंगरको परास्त कर दाहोद पर अधिकार कर लिया। सन् १५७३ में अकबर बादशाहके आधीन रहा। सन् १६१६ में शाहजहाँने औरङ्गजेबके जन्मके सन्मानमें कारवा सराय बनवाई थी। बादमें सन् १७५० वि० स० १८०७ में सिंधियाके कब्जेमें आया और सन् १८४३ में अंग्रेज सरकारने उसपर कब्जा कर लिया यह पहले अच्छा बड़ा नगर रहा है। दाहोदसे सुबह चार बजेसे हमलोग बड़वानी [बावनगजा] की यात्राके लिए चले। और ११ बजेके करीब हमलोग नरवदा नदीके घाट पर पहुँच गए। वहाँसे लारीको पार करनेमें ४ ५ घन्टेका बिलम्ब हुआ, बाबूलालजी जमादारको शहरमें इजाजत लेनेके लिए भेजा गया। उनके सरकारी आज्ञालेनेसे पूर्व हम सब लोगोंने नहा धोकर भोजन बनाना प्रारम्भ किया। लालाराजकृष्णजी और सेठ छदामीलालजीकी कारें नदीके उस पार पहुँच गईं और वे बड़वानीमें दि० जैन बोर्डिंग हाउसमें ठहरे। बाबूलाल जीके आने पर लारीका सामान उतार कर पहले नावद्वारा सामान उस पार भेजा गया, बादमें लारीको नाव पर चढ़ा कर उसपार भेजा। और एक नावमें हम सब लोग पार उतरे। इसके लिए हमें १०) रु० के करीब किराया देना पड़ा। वहांसे सामान मोटर पर चढ़वा कर हम लोग ३ बजेके करीब बडवानी बोर्डिंगहाउसमें ठहरे। यहाँ पं० क्षेमंकरजी न्यायतीर्थ योग्य विद्वान तथा मिलनसार व्यक्ति हैं। उन्होंने हम लोगोंके ठहरनेकी व्यवस्था की तथा गेहूँ और अच्छे घीकी भी व्यवस्था करा दी। बोर्डिंगहाउसमें छात्र अंग्रेजी और संस्कृतकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। हम लोगोंने वहाँ २-३ घण्टेमें कुछ खाने पीनेका सामान खरीदा और विद्यार्थी ज्ञानचन्द्रादिको साथ में लेकर चूलगिरिकी यात्रार्थ चल दिए। वहाँ धर्मशालाके पास लारीको खड़ाकर हम लोग पहाड़की यात्रा करनेके लिए चले। और हमने ता० २० फरवरी सन् १९५३ को शामको सात बजे यात्रा प्रारम्भ की। और दो तीन घण्टेमें सानन्द यात्रा सम्पन्न की। यात्रामें जितना आनन्द आया, वहाँ ठहरनेके लिये समय कम मिलनेसे कष्टभी पहुँचा; क्योंकि वहाँ अनेक पुरानी मूर्तियाँ मौजूद हैं। जो १० वीं ११ वीं शताब्दीकी जान पड़ती हैं। कितनी ही ऐतिहासिक सामग्री छिन्न भिन्न पड़ी है परन्तु क्षेत्रके प्रबन्धकोंने उसे संगृहीत करनेका प्रयत्न ही नहीं किया, केवल पैसा संचित करने और धर्मशाला वा मानस्तम्भादिके निर्माणमें उसे खर्च कर देनेका ही प्रयत्न किया गया है। परन्तु क्षेत्रके इतिहासको खोज निकालने और पुरानी मूर्तियाँ तथा अवशेषोंका संग्रह कर उनके संरक्षण करनेकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया, जिसकी ओर क्षेत्रके मुनीमका ध्यान आकर्षित किया गया।

चूलगिरिमें सबसे प्रधानमूर्ति आदिनाथजी की है जिसे बावनगजाजीके नामसे भी पुकारा जाता है। अब इस मूर्तिके ऊपर छतरी होनेके कारण मधुमक्खियोंका छत्ता लगा हुआ है। यह मूर्ति ८४ फीटकी ऊँची बतलाई जाती है मूर्ति सुन्दर है, कलापूर्ण भी है परन्तु वह उतनी आकर्षक नहीं है जितनी श्रवणबेलगोलकी मूर्ति है।

चूलगिरि बड़वानीसे दक्षिण दिशामें है। बड़वानी छोटीसी रियासतकी राजधानी रही है। चूलगिरिमें ऊपर और नीचे पहाड़ पर कुल २२ मन्दिर हैं। निर्वाणकाण्डमें बड़वानीसे दक्षिण दिशामें चूलगिरि-शिखरसे इन्द्रजीत और कुम्भकर्णादि मुनियोंके मुक्त होनेका उल्लेख है। जिससे इस क्षेत्रको भी निर्वाण क्षेत्र कहा जाता है। दिगम्बर जैन डायरेक्टरीमें लिखा है—कि 'बड़वानी'पुराना नाम नहीं है लगभग ४०० वर्ष पूर्व इसका नाम 'सिद्ध-

* रामसुआ विण्णि जणा लाडनरिंदाण अट्ठकोडीओ।
पावाए गिरि सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नगर' था, पीछे किसी समय बडवानी हुआ होगा। वहां रंगाराकी बावडीके लेखसे ऐसाही मालूम होता है; परन्तु यह कल्पना ठीक नहीं हैं। बडवानी यह नाम कमसे कम छह-सातसौ वर्षसे कम पुराना प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वक्रमकी १५ वीं शताब्दीके भट्टारक उदयकीर्तिने अपनी निर्वाणभक्तिमें इसका उल्लेख किया है, और निर्वाण-काण्डकी वह गाथा भी उक्त भक्तिसे पुरानी जान पड़ती है। भक्तिका वह उल्लेख वाक्य इस प्रकार है :—

'वडवाणीरावणतणउपुत्तु हउं वंदमि इन्दाजि मुणि पवित्तु

चूलगिरिके शिखरस्थित मन्दिरोंका जीर्णोद्धार विक्रम-की १३ वीं १४ वीं और १६ वीं शताब्दीमें किया गया है। जिनमें दो शिलालेख वि० सं० १२२३ के हैं और एक मूर्ति लेख संवत् १३८० का है। शेष लेख समयकी कमीसे नोट करनेसे रह गए। दूसरे लेखसे मुनि रामचन्द्र-की गुरुपरम्पराका उल्लेख मिल जाता है जो लोकनन्दी-मुनिके प्रशिष्य और देवनन्दीमुनिके शिष्य थे। मुनि रामचन्द्रके शिष्य शुभकीर्तिका भी उल्लेख अन्यत्र पाया जाता है। वे लेख पूर्व और दक्षिण दिशाके निम्न प्रकार हैं :—

१ 'यस्य स्वकुब्जतुषारकुन्दविशदाकीर्तिगुणानां निधिः
श्रीमान भूपतिवृन्दवन्दितपदः श्रीरामचन्द्रो मुनिः।
विश्वक्ष्माभृद् खवैशेखर शिखा सञ्चारिणी हारिणी,
उर्व्यां शत्रुजितो जिनस्य भवनव्याजेन विस्फूर्जति ।१।

रामचन्द्रमुनेः कीर्ति सङ्कीर्णं भुवनं किल।
अनेकलोक सङ्घर्षाद् गता सवितुरान्तकं ॥

सम्वत् १२२३ वर्षे भाद्रपदवदि १४ शुक्रवार।

२ ओंनमो वीतरागाय ॥

आसीद्यःकलिकालकल्मषकरिध्वंसैककंठीरवो,
वनेक्ष्मापतिमौलिचुम्बितपदः यो लोकनन्दो मुनिः।
शिष्यस्तस्य स सर्वसङ्गतिलक श्रीदेवनन्दो मुनिः।
धर्मज्ञानतपोनिधिर्यतिगुणग्रामः सुवाचां निधिः ।१॥
वंशे तस्मिन् विपुलतपसां सम्मतः सत्वनिष्ठो।
वृत्तिपापां विमलमनसा त्यज्यविद्याविवेकः।
रम्यां हर्म्यं सुरपतिजितः कारितं येन विद्या।
शेषां कीर्तिर्भाति भुवने रामचन्द्रः स एषः ॥२॥

संवत् १२२३ वर्षे।

३—संवत् १३८० वर्षे माघसुदि ७ सनौ श्रीनंदि-संघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे मूलसंघे कुन्दकुन्दा-चार्यान्वये भट्टारक श्रीशुभकीर्तिदेवतच्छिष्य सर्व्वीति ... ...

एक मूर्ति पर वि० सं० १२१२ का भी लेख अंकित है उसमें शिल्पकारका नाम कुमारसिंह दिया हुआ है।

सम्वत् १५१६ में काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगणके भट्टारक श्रीकमलकीर्तिके शिष्य मंडलाचार्य रत्नकीर्तिने मन्दिरका जीर्णोद्धार किया, और बड़े चैत्यालयके पार्श्वमें दश जिनवसतिकाओंकी आरोपणा की। तथा इन्द्रजीतकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा भी श्रीसंघके लिये की गई। इस तरह यह चूलगिरिक्षेत्रका पुरातन इतिवृत्त १० वीं शताब्दीके आस पास तक जा सकता है। पर यदि वहाँकी पुरातन सामग्रीका संचय कर समस्त शिलालेख और मूर्तिलेखोंका संकलन कर प्रकाशन कार्य किया जाय। तब उसके इतिहासका ठीक पता चल सकता है।

बडवानीसे उसी दिन रात्रिको १० बजे चलकर हम लोग १२ बजेके करीब ऊन (पावागिरि) पहुँचे।

यह क्षेत्र कुछ समय पहले प्रकाशमें आया है। इसे ऊन अथवा 'पावागिरि' कहा जाता है। इस क्षेत्रके 'पावागिरि' होनेका कोई पुरातन उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया। यहाँ एक पुराना जैन मन्दिर ११वीं १२वीं शताब्दीका बना हुआ है, जो इस समय खण्डित है, परन्तु उसमें एक दो पुरानी मूर्तियाँ भी पड़ी हुई हैं। जिनकी तरफ इस क्षेत्र कमेटीका कोई ध्यान नहीं है। यहाँ दो तीन नूतन मन्दिरोंका निर्माण अवश्य हुआ है, जिनमें ३ मूर्तियां पुरानी हैं। वे तीनों मूर्तियाँ एक ही तरहके पाषाणकी बनी हुई हैं। उनमेंसे दोनों ओरकी मूर्तियोंके लेख मैंने उतार लिये थे, परन्तु तीसरी मूर्तिका अभिलेख कुछ अंधेरा होनेसे स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता था इस कारण उता-रनेसे रह गया था। वे दोनों मूर्तियाँ संभवनाथ और कुंथनाथकी हैं उनके मूर्ति लेख निम्नप्रकार हैं:—

१ "सम्वत् १२५८ श्रीबलात्कारगणपण्डित श्रीदेश-नन्दी गुरुवर्यवरान्वये साधु धणपण्डित तच्छिष्य साधुसो-लेण तस्य भार्या हर्षिणी तयोः सुत साधुगासूल सांतेण प्रणमति नित्यम्"

२ श्री सम्वत् १२६३ वर्षे ज्येष्ठमासे १३ गुरौ साधु पंडित रूणु तैथेनितं सुतसीलहारेण प्रणमति नित्यम्"

तीसरी मूर्ति अजितनाथकी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्वानोंको चाहिये कि इस क्षेत्रके सम्बन्धमें अन्वेषण किया जाय, जिससे यह मालूम हो सके कि यह स्थान कितना पुराना है और नाम क्या था, इसे पावागिरि नाम कब और क्यों दिया गया? यह एक विचारणीय विषय है जिस पर अन्वेषक विद्वानोंको विचार करना आवश्यक है।

ऊनसे चल कर हम लोग धूलिया आए। यहाँ से ला० राजकृष्णजी और सेठ छदामीलालजी 'माँगीतुंगी' की यात्राके लिये चले गए। हम लोग धूलियासे सीधे गजपंथा आये। और रात्रिमें एक बजेके करीब धर्मशालामें पहुँचे। वहाँ जाकर देखा तो धर्मशाला दिल्ली और ललितपुर आदिके यात्रियोंसे ठसाठस भरी हुई थी। किसी तरहसे दहलानमें बाहर सामान रख कर दो घंटे आराम किया। और प्रातःकाल नैमित्तिक क्रियाओंसे फारिग होकर यात्राको चले।

यह गजपन्थ तीर्थ नूतन संस्कारित है। सम्भव है पुराना गजपन्थ नासिकके बिलकुल पास ही रहा हो, जहाँ यह वर्तमानमें है वहाँ न हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि गजपन्थ क्षेत्र पुराना है।

गजपन्थ नामका एक पुराना तीर्थ क्षेत्र नासिक * के समीप था। जिसका उल्लेख ईसाकी ५ वीं और विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) ने अपनी निर्वाणभक्तिके निम्न पद्यमें किया है:—

'सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे,
दण्डात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ।
ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः
स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन् ॥३०॥'

पूज्यपादके कई सौ वर्ष बाद होने वाले असग कविने जो नागनन्दी आचार्यके शिष्य थे। उन्होंने अपना 'महावीर चरित' शक संवत् ९१० (वि० सं० १०४५) में बना कर समाप्त किया था। असगने अपने शान्तिनाथ पुराणके सातवें सर्गके निम्न पद्यमें गजपन्थ या 'गजध्वज' पर्वतका उल्लेख किया है ×।

अपश्यन्नापरं किंचिद्रक्षोपायमथात्मनः।
शैलं गजध्वजं प्रापन्नासिक्यनगराद्बहिः ॥ ६८ ॥

विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान ब्रह्मश्रुतसागरने, जो भ० विद्यानन्दके शिष्य थे। अपने बोधपाहुडकी टीकामें २७वें नम्बरकी गाथाकी टीका करते हुए—ऊर्जयन्त-शत्रुंजय-लाटदेश पावागिरि, आभीरदेश तुंगीगिरि, नासिक्यनगरसमीपवर्तिगजध्वज-गजपन्थ सिद्धकूट·····गजध्वज या गजपन्थका उल्लेख किया है। इतनाही नहीं किन्तु ब्रह्मश्रुतसागरने 'पल्लविधानकथा' की अन्तिम प्रशस्तिमें जिसे ईडरके राजा भानुभूपति, जो 'रावभाणजी' के नामसे प्रसिद्ध थे, यह राठौर राजा रावपूंजाजीके प्रथम पुत्र और रावनारायणदासजीके भाई थे। सं० १५०२ में गुजरातके बादशाह मुहम्मदशाह द्वितीयने ईडर पर चढ़ाई की थी, तब उन्होंने पहाड़ोंमें भागकर अपनी रक्षा की, और बादमें सुलह कर ली थी। इन्होंने सं० १५०२ से १५५२ तक राज्य किया है। इनके मंत्री भोजराज हूमडबंशी थे, उनकी पत्नी विनयदेवी थीं। उनके चार पुत्र थे और एक पुत्री। ब्रह्मश्रुतसागरने संघ सहित इनके साथ गजपंथकी यात्रा की थी और सकलसंघको दान भी दिया था यथा—

यात्रां चकार गजपन्थगिरौ स संघा—
ह्येतत्तपो विदधती सुदृढव्रता सा
सच्छान्तिकं गणसमर्चनमर्हदीश
नित्यार्चनं सकलसंघ सदत्तदानं ॥४६॥

इससे स्पष्ट पता चलता है कि विक्रमकी १६ वीं शताब्दीमें 'गजपन्थ' क्षेत्र विद्यमान था और उसकी यात्रार्थ

* नासिक पुराना शहर है। यहाँ रामचन्द्रजीने बहुतसा काल व्यतीत किया था, कहा जाता है कि इसी स्थान पर रावणकी बहिन सूर्पणखाकी नासिका काटी गई थी इसीसे इसे नासिक कहा गया है। नासिकमें ईस्वी सनके दो सौ वर्ष बाद अंधभृत्य, बौद्ध, चालुक्य, राष्ट्रकूट चंडोर यादववंश और उसके बाद मुसलमानों, महाराष्ट्रों और अंग्रेजोंका राज्य शासन रहा है। यह हिन्दुओंका पुरातन तीर्थ है। यह गोदावरी नदीके बायें किनारे पर बसा हुआ है पंचवटीका मन्दिर भारतमें प्रसिद्ध ही है। दिगम्बर जैनग्रंथोंमें भी नासिकका उल्लेख निहित है। आचार्य शिवार्यकी भगवती आराधनाकी १३५६वींकी गाथामें नासिक्य या नासिक नगरका उल्लेख मिलता है। भगवती आराधना ग्रन्थ बहुत प्राचीन है।

× देखो, अनेकान्त वर्ष ७—किरण ७-८ में पं० नाथूरामजी प्रेमीका लेख।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संघ जाते थे। अन्वेषण करने पर गजपन्थ यात्राके अन्य-भी समुल्लेख प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु विचारना तो यह है कि वर्तमान गजपन्थ ही क्या पुरातन गजपन्थ है या श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीके लिखे अनुसार वि० सं० १६३६ में नागौरके भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति द्वारा मसरूल गाँवके पाटीलसे जमीन लेकर नूतन संस्कारित गजपन्थ है। हो सकता है कि गजपन्थ विशाल पहाड़ न रहा हो, पर वह इसी स्थान पर था, यह अन्वेषणकी वस्तु है। इन सब उल्लेखोंसे गजपन्थकी प्राचीनता और नासिकनगरके बाहिर उसकी अवस्थिति निश्चित थी। पर वह यही वर्तमान स्थान है। इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्धमें अन्य प्रमाणोंके अन्वेषण करनेकी आवश्यकता है। गजपन्थकी वर्तमान पहाड़ी पर जो गुफाएँ और मूर्तियाँ थीं उनका नूतन संस्कार कर देनेके कारण वहाँकी प्राचीनताका स्पष्ट भान नहीं होता। वहाँकी प्राचीनताको कायम रखते हुए जीर्णोद्धार होना चाहिये था। पहाड़ पर मूर्तिका दर्शन भीड़में करना बड़ा कठिन होता है। और पहाड़ पर भी सावधानीसे चढ़ना होता है; क्योंकि कितनी ही सीढ़ियाँ अधिक ऊँचाईको लिये हुये बनाई गई हैं। हम लोगोंने सानन्द यात्रा की।

गजपन्थसे नासिक होते हुए पहाड़ी प्रदेशकी वह मनोरम छटा देखते हुए हम लोग रात्रिको ६ बजे ता० २२ फर्वरीको बम्बई पहुँचे और सेठ सुखानन्दजीकी धर्मशालामें चोथी मंजिल पर ठहरे।

बम्बई एक अच्छा बन्दरगाह है और शहर देखने योग्य है। बम्बईकी आबादी घनी है। सम्भवतः बम्बईकी आबादी इस समय पच्चीस तीस लाखके करीब होगी। बम्बई व्यापारका प्रसिद्ध केन्द्र है। यहाँसे ही प्राय सब वस्तुएँ भारतके प्रदेशों तथा अन्य देशोंमें भेजी जाती हैं। हम लोगोंने बम्बई शहरके मन्दिरोंके दर्शन किये चौपाटीमें बने हुए सेठ माणिकचन्द्रजी और संघपति सेठ पूनमचन्द घासीलालजीके चैत्यालयके दर्शन किये। ये दोनों ही चैत्यालय सुन्दर हैं। भूलेश्वरके चन्द्रप्रभु चैत्यालयके दर्शन किये। रात्रिमें वहाँ मेरा और बाबूलालजी जमादारका भाषण हुआ। एक टैक्सी किरायेकी लेकर बन्दरगाह भी देखा। समयाभावके कारण अन्य जो स्थान देखना चाहते थे, वे नहीं देख पाये।

श्रद्धेय पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' मालिक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर हीराबाग बम्बईसे भी मिले। उनसे चर्चा करके बड़ी प्रसन्नता हुई। मुख्तार साहब कुछ अस्वस्थसे चल रहे थे, वे प्रेमीजीके यहाँ ही ठहरे। वहाँ उन्हें सर्व प्रकारकी सुविधा प्राप्त हुई। पूर्ण आराम मिलनेसे तबियत ठीक हो गई। हम सब लोगोंने हैजेके टीके यहाँ ही लगवा लिये। क्योंकि श्रवण बेल्गोलमें हैजेके टीकेके विना प्रवेश निषिद्ध था।

बम्बईसे हम लोग ता० २६ की शामको ४ बजे पूनाके लिये रवाना हुए। बम्बईसे पूना जानेका मार्ग बड़ा ही सुहावना प्रतीत होता है। पहाड़की चढ़ाई और पहाड़को काटकर बनाई हुई गुफाएँ देख कर चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई। यह प्रदेश इतना सुन्दर और मनमोहक है कि उसके देखनेके लिये चित्तमें बड़ी उत्कंठा बनी रहती है। हम लोग रातको ६ बजे पूना पहुँचे और स्टेशनके पासकी धर्मशालामें ठहरे। यद्यपि पूनामें अनेक स्थल देखनेकी अभिलाषा थी। खासकर "भण्डाकर रिसर्चइन्स्टिट्यूट" तो देखना ही था, परन्तु समय की कमीके कारण उसका भी अवलोकन नहीं कर सके।

पूनासे हम लोग रात्रिके ४ बजे कोल्हापुरके लिये रवाना हुए। और सतारा होते हुए हम लोग रात्रिमें कुंभोज (बाहुबली) पहुँचे।

कुम्भोज बड़ा ही रमणीक स्थान है। यहाँ अच्छी धर्मशाला बनी हुई है। साथ ही पासमें एक गुरुकुल है। गुरुकुलमें स्वयं एक सुन्दर मन्दिर और भव्य रथ मौजूद है। बाहुबलीकी सुन्दर मूर्ति विराजमान है दर्शन पूजन कर दर्शकका चित्त आल्हादित हुए बिना नहीं रहता। ऊपर पहाड़ पर भी अनेक मन्दिर हैं जिनमें पार्श्वनाथ और महावीरकी मूर्तियाँ विराजमान हैं और सामने एक बड़ा भारी मानस्तम्भ है। बाहुबली स्वामीकी मूर्ति बड़ी ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। दर्शन करके हृदयमें जो आनन्द प्राप्त हुआ वह वचनातीत है। दर्शन पूजनादिसे निपट कर मुनि श्रीसमन्तभद्रजीके दर्शन किये, उन्होंने अभी कुछ समय हुए मुनि अवस्था धारण की थी। उन्होंने कहा कि मेरा यह नियम था कि ६० वर्षकी अवस्था हो जाने पर मुनिमुद्रा धारण करूँगा। मुनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समन्तभद्र प्रकृतितः भद्र और शान्त हैं। वे कर्तव्य कर्ममें बड़े ही सावधान हैं।

इन्होंने अपनी क्षुल्लक अवस्थामें जैनसमाजमें गुरुकुल पद्धति पर शिक्षाका प्रचार किया और कितने ही बी०ए० एम. ए. शास्त्री, न्यायतीर्थ योग्य कार्यकर्ता तैयार किये हैं। कारंजाका प्रसिद्ध ब्रह्मचर्याश्रम आपकी बदौलत ही इतनी तरक्की करनेमें समर्थ हो सका है। अब भी यहाँ मुनिजी दो घण्टा स्वयं पढ़ाते हैं। गुरुकुलका स्थान सुन्दर है। व्यवस्था भी अच्छी है। आशा है गुरुकुल अपने को और भी समुन्नत बनानेमें समर्थ होगा। उनसे आत्म-कल्याण सम्बन्धि चर्चा हुई। मुनिजीने श्रीमुख्तार साहबसे कहा आपने समाजकी खूब सेवा की है। और उच्च कोटिका साहित्य भी निर्माण किया है। उसके साथ संस्थाको अपना धन भी दे डाला है। अब आप अपनी ओर भी देखिये और कुछ आत्म साधनकी ओर अग्रसर होनेका प्रयत्न कीजिये। मुख्तार साहबने मुनिजीसे कहा कि मेरा आत्मसाधनकी ओर लगनेका स्वयं विचार चल रहा है और उसमें यथाशक्ति प्रयत्न भी करूंगा। गुरुकुलके एक सज्जनने मुख्तार साहबका चित्र भी लिया और दूधका आहार भी दिया हम लोग यहांसे २१ मील चल कर कोल्हापुरमें दि० जैन बोर्डिङ्ग हाउस में ठहरे।

क्रमशः

परमानन्द जैन शास्त्री

हिन्दी जैन-साहित्यमें तत्वज्ञान

(श्रीकुमारी किरणवाला जैन)

किसी पदार्थके यथार्थ स्वरूपको अथवा सारको तत्त्व कहते हैं। उनकी संख्या सात है। उनमें जीव और अजीव जड़ और चेतन ये दो तत्त्व प्रधान हैं। इन्हीं दो तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे अन्य तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। संसारका सारा परिणाम अथवा परिणमन इन्हीं दो तत्त्वोंका विस्तृत रूप है। इन तत्त्वोंको जैनसिद्धान्तमें आत्माका हितकारी बताया गया है और उन्हींको जैनसिद्धान्तमें 'तत्त्व संज्ञा' प्रदान की गई है। आत्माका वास्तविक स्वभाव शुद्ध है; परन्तु वर्तमान संसार अवस्था पाप पुण्य रूपी कर्मोंसे मलिन हो रही है। जैनतीर्थंकरोंके कथनानुसार आत्माका पूर्ण हित, स्वाधीनता-का लाभ है जिसमें आत्माके स्वाभाविक सर्वगुण विकसित हो जायें, तथा वह सर्व कर्मकी मलिनतासे मुक्त हो जाय—छूट जाय। उस अन्तिम अवस्थाको प्राप्त होना ही मुक्ति है। आत्माके पूर्ण मुक्त हो जाने पर उसे परमात्मा कहा जाता है। उसीको सिद्ध भी कहते हैं। मुक्त अवस्था-में परमात्मा सदा अपने स्वभावमें मग्न होकर चिदानन्दका भोग करता है। जैनाचार्योंके अनुसार इसी मुख्य उद्देश्य-का निष्पक्षभावसे विचार ही तत्वज्ञान है। इन तत्त्वों द्वारा बताया गया है कि यह आत्मा वास्तवमें तो शुद्ध हैं, परन्तु वह समस्त कर्ममलिमाके सर्वथा वियोगसे होता है इसका जैनग्रन्थोंमें विस्तृत विवेचन किया गया है जैसे रोगी रोगसे पीड़ित होने पर जब वह वैद्यके समीप जाता है तब वैद्य रोगीकी परीक्षा करनेके पश्चात् बताता है कि तू वास्तवमें तो रोगी नहीं है, परन्तु निम्नकारणोंसे तेरे यह रोग उत्पन्न हुआ है। तेरा रोग ठीक हो सकता है परन्तु तुझे मेरे कहे अनुसार प्रयत्न करना पड़ेगा, तो इस रोगसे तेरा छुटकारा हो सकेगा अन्यथा नहीं। वैद्य रोगीको रोगका निदान बतलाने-के बाद उससे छुटकारा पानेका उपाय बतलाता है, उसके बाद रोगकी वृद्धि न होनेके लिये उपचार करता है। जिससे रोगी रोगसे मुक्त हो सके।

इसी प्रकार मलिन वस्त्रको स्वच्छ करनेके पूर्व वस्त्र और उसकी मलिनताके कारणों-को जानना आवश्यक है। वस्त्र मलिन कैसे हुआ? और किस प्रकार वस्त्रकी मलि-नताको दूर किया जा सकता है जो व्यक्ति अनेक प्रयोगोंके द्वारा उसकी मलिनताको दूर करनेका प्रयत्न करता है वही मलिन वस्त्रको धोकर स्वच्छ कर लेता है। वस्तुकी मलि-नताको दूर करनेका यही क्रम है अनेक प्रयोगोंके द्वारा उसे शुद्ध एवं स्वच्छ बनाया जासकता है। इसी प्रकार जैना-चार्योंने आत्माको शुद्ध करनेकी प्रक्रिया, खानसे निकाले गए सुवर्णपाषाणको घर्षण छेदन ताडन-तापनादि प्रयोगोंके द्वारा अन्तर्बाह्यमलसे शुद्ध करनेके समान बतलाई है। उसी तरह आत्माको भी अन्तर्बाह्यमलसे मुक्त करनेके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिये विविध तपों और ध्यानादिके अभ्यास द्वारा शुद्ध बनानेका उपाय बतलाया गया है। अस्तु आत्माको शुद्ध करनेके लिए इन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना भी अत्यन्त आवश्यक है। इनके जान लेनेसे आत्मशुद्धि का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

जैनसिद्धान्तमें सात तत्त्वोंके नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं :—१ जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७ मोक्ष। इनमें पाप और पुण्यको जोड़ देनेसे ६ पदार्थ हो जाते हैं।

जीव—जो अपने चैतन्य लक्षण रखते हुये शाश्वत रहे उसे जीवकी संज्ञा दी जाती है। अथवा ज्ञान, दर्शन और चेतनामय पदार्थको आत्मा या जीव कहते हैं, जो प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान है वह सुख दुखका अनुभव करता है।

अजीव—जिसमें जीवका वह चैतन्य लक्षण न हो उसे अजीव या जड़ कहते हैं। अजीव पांच प्रकार के होते हैं—१.पुद्गल, २. आकाश, ३. काल, ४. धर्मास्तिकाय और ५. अधर्मास्तिकाय।

आस्रव—शुभ या अशुभ कर्मके बंधने योग्य कर्म वर्गणाओंके आनेके द्वार या कारणको तथा उन कर्म-पिण्डोंके आत्माके निकट आनेको आश्रव कहते हैं। जो कर्मपिंडके आनेके द्वार या कारण हैं उनको भावा स्रव कहते हैं और कर्मपिंडके आनेको द्रव्य आस्रव कहते हैं। जैसे नौकामें छिद्र, जलके प्रविष्ट होनेका द्वार है।

प्रत्येक शुभ अशुभ कार्यको करनेके तीन कारण होते हैं—मन, वचन और काय। मनसे विचार तथा प्रतिज्ञा करते हैं, वचनसे वार्तालाप करते हैं और कायासे क्रियादि करते हैं जीवके प्रति दया, सत्यवचन, संतोषभाव आदि शुभ कर्म हैं। मिथ्याज्ञान, असत्यवचन, चौर्य, विषयोंकी लम्पटता आदि अशुभकर्म है। सारांश यह है कि स्वयं अपने ही भावोंसे कर्मपिंडको आकर्षित करना आस्रव तत्त्व कहलाता है।

बंध—कर्मपिंडोंको आत्माके साथ दूध और पानीकी तरह मिल कर एक हो जानेको बन्ध कहते हैं। यह बंध वास्तवमें क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि कषायोंका कारण है। बंधको चारभागोंमें विभक्त किया गया है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभाग-बंध। बन्धके कारणोंको भावबन्ध कहते हैं। कर्मोंके बंधन-को द्रव्यबन्ध कहते हैं। जब कर्म बंधता है तब जैसी मन वचन कायकी प्रवृत्ति होती है उसीके अनुसार कर्मपिण्डों के बंधनका स्वभाव पड़ जाता है। इसीको प्रकृतिबंध कहते हैं। कर्मपिण्डोंकी नियत संख्याको प्रदेशबंध कहते हैं। यह दोनों प्रकृति और प्रदेशबंध योगोंसे होते हैं, कर्मपिंड जब बंधता है तब उसमें कालकी मर्यादा पड़ती है इसी कालकी मर्यादाको स्थितिबंध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता या मन्दताके कारण कर्मोंको स्थिति तीव्र या मन्द होती है। इसी समय उन कर्मपिंडोंमें तीव्र या मन्द फल दान-की शक्ति पड़ती है उसे अनुभागबंध कहते हैं। यह बंध भी कषायके अनुसार तीव्र या मन्द होता है। स्थितिबंध और अनुभागबंध कषायोंके कारण होते हैं।

संवर—आश्रवका विरोधी संवर है। कर्मपिंडोंके आनेका रुक जाना संवर है। जिन मार्गोंसे कर्म रुकते हैं उन्हें भावसंवर और कर्मोंके रुक जानेको द्रव्यसंवर कहते हैं।

जीवोंके भाव तीन प्रकारके होते हैं—अशुभउपयोग, शुभउपयोग, और शुद्धउपयोग। अशुभउपयोगसे पापकर्म बंधता है, और शुभ उपयोगसे पुण्यकर्म बन्धता है, शुद्धउप-योगके लाभ होने पर कर्मोंका आवागमन रुक जाता है। आत्माको सर्वकर्मबँधनसे बचानेका उपाय शुद्ध उपयोग है।

निर्जरा—कर्म अपने समय पर फल देकर झड़ते हैं। इसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। आत्मध्यानको लिए हुये तप करने व इच्छाओंके निरोधसे जब भावोंमें वीतरा-गता आती है तब कर्म अपने पकनेके समयसे पूर्व ही फल देकर झड़ जाते हैं। इसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

मोक्ष—आत्माके सर्व कर्मोंसे छूट जानेको व आगे नवीन कर्म बंध होनेके कारणोंके मिट जानेको मोक्ष तत्त्व कहते हैं। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर आत्मा शुद्ध हो जाती है। इसी शुद्ध आत्माको सिद्धकी संज्ञा प्रदान की गई है।

पुण्य कर्मको पुण्य और पाप कर्मको पाप कहते हैं। इन्हीं सात तत्त्वोंके अन्दर इनका स्वरूप गर्भित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवात्मा अनादि और अनन्त पदार्थ है। इसकी अवस्थायें तो परिवर्तित होती ही हैं और गुण भी तिरोहित और विकसित होते रहते हैं। जब तक इसकी यह अवस्था रहती है तब तक यह संसारी कहलाता है। गुणोंके इस क्रमिक वृद्धि ह्रास- का अन्त होकर जब यह जीव अपने गुणोंका पूर्ण विकास कर लेता है तब यह मुक्त कहलाता है।

गुणोंकी वृद्धि और ह्रास कुछ कारणोंसे होती है। वे कारण क्रोध, मान. माया लोभ आदि कषायें हैं। इन कारणोंसे जीव अपने स्वरूपको भूलजाता है। दूसरे शब्दों-में यों कहिये कि मोहके कारण अपने स्वरूपको भूल जाना ही बन्धका कारण है और जब यह अपने स्वरूपकी ओर झुकता है—उसको पानेके प्रयत्नमें लगता है तब इसके बाह्य पदार्थोंसे मोह मन्द हो जाता है और मंद होते होते जब वह बिलकुल नष्ट हो जाता है तब वह मुक्त या सिद्ध हो जाता है।

श्रद्धा, विज्ञान और सुप्रवृत्ति आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। यह गुण किसी दूसरे द्रव्यमें नहीं होते। मुक्त अवस्थामें यह गुण पूर्ण विकसित हो जाते हैं। संसारी अवस्थामें यह गुण या तो विकृत रहते हैं या इनकी ज्योति मन्द रहती है। इन गुणोंके अतिरिक्त किसी भी पदार्थसे अनुराग रखना यही बंधका कारण है। किसीसे अनुराग होगा तो किसी दूसरेसे द्वेष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इन राग और द्वेषोंका किस प्रकार अभाव हो और आत्माके स्वाभाविक गुणोंमें किस प्रकार वृद्धि हो, इन प्रश्नोंका हल करना ही जैन शासन या इन सात तत्वोंका प्रयोजन है।

'स्याद्वाद' जैन-तत्व ज्ञानका एक मुख्य साधन है। अनेकान्तवाद, सप्तभंगी नय आदि स्याद्वादके पर्याय-वाची शब्द हैं यह स्याद्वाद ही हमें पूर्ण सत्य तक ले जाता है।

'अनेकान्तवाद' का अर्थ है—नाना धर्मात्मक वस्तुका कथन। अनेकका अर्थ है नाना, अन्तका अर्थ है धर्म। और वादका अर्थ है कहना, यह अनेकान्तवाद' ही सत्यको स्पष्ट कर सकता है, क्योंकि सत्य एक सापेक्ष वस्तु है, सापेक्ष सत्य द्वारा ही असत्यका अंश निकाला जा सकता है और इस प्रकार पूर्ण सत्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी रीतिसे ज्ञान-कोषकी श्रीवृद्धि हो सकती है, जो कि सभी विद्वानोंकी अभिवृद्धि करता है। आचार्य अमृतचन्दने उसे, 'परमागमस्य बीजम्'-परमागमका प्राण प्रतिपादन करके उसके महत्वको चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। 'अनेकान्तवाद' एक मनोहर, सरल एवं कल्याणकारी शैली है। जिससे एकान्त रूपसे कहे गये सिद्धान्तोंका विरोध दूर कर उसमें अभूतपूर्व मैत्रीका प्रादुर्भाव होता है।

'एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
'अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २२५

अर्थात् जिस प्रकार दधि मंथनके समय ग्वालिन जब मथानीके एक छोरको खींचती है तब दूसरे छोरको छोड़ नहीं देती वरन् ढीला कर देती हैं और इस प्रकार दूध दही-के सार मक्खनको निकालती है। उसी प्रकार जैनी नीति भी वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करती है, अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म रहते हैं उनके सब गुणोंका एक साथ प्रतिपादन करना अवर्णनीय हैं। इसी लिए किसी गुणका एक समय मुख्य प्रतिपादन किया जाता है कि किसी दूसरे समय उसके दूसरे दूसरे गुणोंका प्रतिपादन किया जाता है। ऐसी हालतमें किसी एक गुणका प्रतिपादन करते समय उस वस्तुमें दूसरे गुण रहते ही नहीं या हैं नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। 'इसीका नाम 'अनेकान्तवाद' है, जैसे एक ही पदार्थमें बहुतसे आपेक्षिक स्वभाव पाये जाते हैं जिनमें एक दूसरेका विरोध दीखता है स्याद्वाद उनको भिन्न अपेक्षासे ठीक ठीक बता देता है। सर्वविरोध मिट जाता है। स्याद्वादका अर्थ है स्यात्-किसी अपेक्षासे वाद कहना। किसी अपेक्षासे किसी बातको जो बतावे वह 'स्याद्वाद' है। एक आत्म पदार्थको ही ले लिया जाय वह द्रव्यकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है—उसका न नाश होता है न उत्पाद। किन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा वह परिवर्तनशील हैं। जिसे हम डाक्टर या वकील कहते हैं उसका पुत्र उसे 'पिता', उसका पिता, 'पुत्र' भतीजा 'चाचा', चाचा 'भतीजा', भानजा 'मामा', 'मामा', 'भान-जा' कहते हैं। यह सब धर्म एक ही व्यक्तिमें एक ही समय विद्यमान रहते हैं। जब हम एक सम्बन्धको कहते हुए स्यात् शब्द पहिले लगा देंगे तो समझने वाला यह ज्ञानप्राप्त कर लेगा कि इसमें और भी सम्बन्ध हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शनकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य होती हैं। द्रव्यदृष्टिकीणके लक्ष्य बिन्दुको दृष्टिमें रखकर उसे नित्य बनाती हैं। द्रव्य अनाशात्मक हैं। पर्यायदृष्टि पर्यायोंको अनित्य बनाती हैं। पर्याय उत्पाद और व्यय स्वभाव वाली होती हैं। साथ ही उत्पाद व्ययसे वस्तुमें उसकी स्थितिरूप ध्रुवताका भी प्रत्यक्ष अनुभव होता हैं। यही स्थिरता वस्तुमें नित्य धर्मका अस्तित्व सिद्ध करती हैं। अतः प्रत्येक वस्तु उत्पाद. व्यय और ध्रौव्य युक्त हुआ करती हैं। जैसा कि आचार्य उमास्वामि ने कहा हैं–'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।'

श्रीरतनलालजी संघवी अपने, 'स्याद्वाद' नामक लेखमें 'अनेकान्तवाद' का स्वरूप बताते हुए कहते हैं:—

'दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीरने इस सिद्धान्तको' सिया अत्थि, सिया णत्थि, सिया अवत्तव्य' के रूपमें बताया हैं। जिसका यह तात्पर्य हैं कि प्रत्येक वस्तु. तत्त्व किसी अपेक्षा वर्तमानरूप होता हैं और किसी दूसरी अपेक्षासे वही नाश रूप भी हो जाता है इसी प्रकार किसी तीसरी अपेक्षा विशेषसे वही तत्त्व त्रिकाल सत्ता रूप होता हुआ भी शब्दों द्वारा अवाच्य अथवा अकथनीय रूपवाला भी हो सकता है।

जैन तीर्थंकरोंने और पूज्य भगवान अरिहन्तोंने इसी सिद्धान्तको उत्पन्ने वा, विनष्टे वा, धुवे वा, इन तीनों शब्द द्वारा, त्रिपदीके रूपमें संग्रथित कर दिया है। इस त्रिपदीका जैन आगमोंमें इतना अधिक महत्व और सर्वोच्च शीलता बतलाई है कि इनके श्रवणमात्रसे ही गणधरोंको चौदहपूर्वोका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशांगी रूप वीतराग-वाणीका यह हृदय स्थान कहा जाता है।

भारतीय साहित्यके सूत्रयोगमें निर्मित महान ग्रन्थ तत्वार्थसूत्रमें इसी सिद्धान्तका 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्रके रूपमें उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् यानी द्रव्य रूप अथवा भावरूप है, उसमें प्रत्येक क्षण नवीन पर्यायोंकी उत्पत्ति होती रहती है, एवं पूर्ण पर्यायोंका नाश होता रहता है परन्तु फिर भी मूल द्रव्यकी द्रव्यता, मूल सत्की सत्ता पर्यायोंके परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्य रूपसे बराबर कायम रहती है। विश्वका कोई भी पदार्थ इस स्थितिसे वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्यके मध्ययुगमें तर्क-जाल-सगुम्फित घनघोर शास्त्रार्थ रूप संघर्षके समयमें जैन साहित्यकारोंने इसी सिद्धान्तके स्यात् अस्ति, स्यान्नास्ति और स्याद्वक्तव्य इन तीन शब्दसमूहोंके आधारपर सप्तभंगीके रूपमें स्थापित किया है। वह इस प्रकार है—

१. उपन्ने वा विगये वा धुवे वा नामक अरिहंत प्रवचन।

२. सिया अत्थि, सिया णत्थि, सिया अविक्तव्य नामक आगम् वाक्य।

३. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' नामक सूत्र।

४. स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं नामक संस्कृत काव्य, यह सब स्याद्वाद सिद्धांतके मूर्तवाचक रूप हैं। शब्द रूप कथानक है और भाषा रूप शरीर है। स्याद्वादका यही बाह्य रूप है। ज्ञानोदय पृ० ४५६-४६०

सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें नित्य और अनित्य रूप स्वभावोंका होना आवश्यक है। यदि यह दोनों स्वाभाव एक ही समयमें द्रव्यमें न पाये जावें तो द्रव्य निरर्थक हो जाता है। इसके लिए सुवर्णका दृष्टान्त लेना उपयुक्त होगा। यदि सुवर्ण नित्य हो तो उसमें अवस्था-परिवर्तन नहीं हो सकता। वह सदैव एकसी स्थितिमें रहेगा। उसे कोई भी व्यक्ति मोल न लेगा। क्योंकि उससे आभूषणोंकी अवस्था तो बनेगी नहीं। यदि सुवर्णको अनित्य मान लिया जाय तब भी उसका कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा। परन्तु सुवर्णका स्वभाव ऐसा नहीं। सुवर्ण रूप रहता हुआ अपनी अवस्थाओंमें परिवर्तित होता रहता है। सुवर्णके एक डेले मात्रसे वाली बन सकती है। वालीको तोड़कर अंगूठी और अंगूठीसे अन्य किसी भी प्रकार आभूषण बन सकता है। इसी प्रकार जीवमें भी नित्य और अनित्य दोनों स्वभाव हैं, तथा वह संसारीसे सिद्ध हो सकेगा। अवस्थाओंमें परिवर्तन होत है जो संसारी था वही सिद्ध हो जाता है।

वस्तुमें अनित्य धर्मका प्रतिपादन निम्न सात प्रकारोंसे होता है।

१. स्यादस्ति–कथंचित् है।

२. स्यान्नास्ति–कथंचित् नहीं है।

३. स्यादस्तिनास्ति–कथंचित् हैं और नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. स्याद्वक्तव्यं–किसी अपेक्षासे पदार्थ वचनसे एक साथ नहीं कहने योग्य है।

५. स्यादस्ति अवक्तव्यं च–किसी अपेक्षासे द्रव्य नहीं है और अवाच्य है।

६, स्यादस्ति नस्ति अवक्तव्यं च–कथंचित् है, नहीं है और अवक्तव्यं भी है।

७. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यं च-कथंचित् है, नहीं है और अवक्तव्य भी है।

इन सात प्रकारके समूहोंको 'सप्तभंगी नय' कहते हैं। कविवर बनारसीदासजीने नाटक समयसारमें स्याद्वादकी महत्ता वर्णित की है।

जथा जोग करम करे पै ममता न धरै,
रहे सावधान ज्ञान-ध्यानकी टहलमें।
तेई भवसागरके ऊपर ह्वै तरे जीव,
जिन्हको निवास स्यादवादके महलमें॥

नाटक समयसार पृ० ॥३५॥

'तत्वार्थराजवार्तिक' में आचार्य अकलंकदेवने बताया है कि वस्तुका वस्तुत्व इसीमें है कि वह अपने स्वरूपका ग्रहण करे और परकी अपेक्षा अभाव रूप हो। इसे विधि और विविध रूप अस्ति और नास्ति नामक भिन्न धर्मों द्वारा बताया है।

देश और विदेशके विभिन्न दार्शनिकोंने स्याद्वादको मौलिकता और उपादेयताकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है। डा० बी० एल० आत्रेय काशी विश्वविद्यालयके कथनानुसार—

'जैनियोंका अनेकान्तवाद और नयवाद एक ऐसा सिद्धान्त है कि सत्यकी खोजमें पक्षपात रहित होने की प्रेरणा करता है, जिसकी आवश्यकता सब धर्मोंको है।'

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा भूतपूर्व वाइचांसलर प्रयाग विश्वविद्यालयने इस सिद्धान्तकी महत्ता निम्न रूपसे वर्णित की है—

'जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन-सिद्धान्तका खंडन पढ़ा है तबसे मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है, जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा और जो कुछ मैं अब तक जैनधर्मको जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे (शंकराचार्य) जैनधर्मके असली ग्रन्थोंको देखनेका कष्ट उठाते तो जैनधर्मके विरोध करनेकी कोई बात नहीं मिलती।'

पूनाके प्रसिद्ध डा० भंडारकर सप्तमंगी प्रक्रियाके विषयमें लिखते हैं—

इन भंगोंके कहनेका मतलब यह नहीं है कि प्रश्नमें निश्चयपना नहीं है या एक मात्र सम्भव रूप कल्पनायें करते हैं जैसा कुछ विद्वानोंने समझा है इन सबसे यह भाव है कि जो कुछ कहा जाता है वह सब किसी द्रव्य, क्षेत्र, कालादिकी अपेक्षासे सत्य है।

विश्ववंद्य महात्मा गांधीजीने इस सम्बन्धमें निम्न विचार व्यक्त किये हैं—

यह सत्य है कि मैं अपनेको अद्वैतवादी मानता हूँ, परन्तु मैं अपनेको द्वैतवादीका भी समर्थन करता हूँ। सृष्टिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते हैं, इसलिये सृष्टि अस्तित्व रहित कही जाती है, लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है जिसे स्वरूप कह सकते हैं। उस रूपसे 'वह है' यह भी हम देख सकते हैं, इसलिये वह सत्य भी है। उसे सत्यासत्य कहो तो मुझे कोई उज्र नहीं। इसलिए यदि मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी माना जाय तो इसमें मेरी कोई हानि नहीं होगी। जिस प्रकार स्याद्वादको जानता हूँ उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ···मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।'

सारांश यह है कि स्याद्वाद न्याय पदार्थको जाननेके लिये एक निमित्त साधन है। इसका महत्व केवल जैन सम्प्रदायके हेतु ही नहीं वरन् जैनेतर सम्प्रदायके लिये भी प्रयोगमें लानेका सिद्धान्त है। स्वामी समन्तभद्रने इस सत्यका अधिक प्रयोग किया। स्याद्वाद एक वह शस्त्र है, जिसके प्रयोग द्वारा साम्राज्यमें किसी प्रकारका उपद्रव और विरोध नहीं उपस्थित हो सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुरलका महत्व और जैनधर्म

(श्री विद्याभूषण पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री)

(गत किरणसे आगे)

(१) तामिल जनतामें प्राचीन परम्परासे प्राप्त जनश्रुति चली आती है कि कुरलका सबसे प्रथम पारायण पांड्यराज 'उग्रवेरुवज्रदि' के दरबारमें मदुराके ४९ कवियोंके समक्ष हुआ था। इस राजाका राज्यकाल श्रीयुत एम श्रीनिवास अय्यङ्गरने १२५ ईस्वीके लगभग सिद्ध किया है।

(२) जैन ग्रन्थोंसे पता लगता है कि ईस्वीसनसे पूर्व प्रथम शताब्दीमें दक्षिण पाटलिपुत्रमें द्रविड़संघके प्रमुख श्रीकुन्दकुन्दाचार्य अपर नाम एलाचार्य थे। इसके अतिरिक्त जिन प्राचीन पुस्तकोंमें कुरलका उल्लेख आया है उनमें सबसे प्रथम अधिक प्राचीन 'शिलप्पदिकरम्' नामका जैनकाव्य और 'मणिमेखले' नामक बौद्धकाव्य हैं। दोनोंका कथा विषय एक ही है तथा दोनोंके कर्ता आपसमें मित्र थे। अतः दोनों ही काव्य सम-सामयिक हैं और दोनोंमें कुरल काव्यके छठे अध्यायका पांचवाँ पद्य उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनोंमें कुरलके नामके साथ ५४ श्लोक और उद्धृत हैं। "शिलप्पदिकरम्" तामिल भाषाके विद्वानोंका इतिहासकाल जाननेके लिए सीमानिर्णायकका काम करता है और इसका रचनाकाल ऐतिहासिक विद्वानोंने ईसाकी द्वितीय शताब्दी माना है।

(३) यह भी जनश्रुति है कि तिरुवल्लुवरका एक मित्र एलेलाशिङ्गन नामका एक व्यापारी कप्तान था। कहा जाता है कि यह इसी नामक चोलवंशके राजाका छठा वंशज था, जो लगभग २०६० वर्ष पूर्व राज्य करता था और सिंहलद्वीपके महावंशसे मालूम होता है कि ईसासे १४० वर्ष पूर्व उसने सिंहलद्वीप पर चढ़ाई कर उसे विजय किया और वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इस शिङ्गन और उक्त पूर्वजके बीचमें पाँच पीढ़ियाँ आतीं हैं और प्रत्येक पीढ़ी ४० वर्षकी मानें तो हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि एलेलाशिङ्गन ईसासे पूर्व प्रथम शताब्दी में थे।

बात असलमें यह है कि एलाचार्यका अपभ्रंश एलेलाशङ्गिन हो गया है। यह एलेलाशिङ्गन और कोई नहीं एलचार्य ही हैं। कुंदकुंदाचार्य ऐलक्षत्रियोंके वंशधर थे, इसलिए इनका नाम एलाचार्य था।

इन पर्याप्त प्रमाणोंके आधार पर हमने कुरलकाव्यका रचनाकाल ईसासे पूर्व प्रथम शताब्दी निश्चित किया है और यही समय अन्य ऐतिहासिक शोधोंसे श्रीऐलाचार्यका ठीक बैठता है। मूलसंघकी उपलब्ध दो पट्टिवालियों में तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वातिके पहिले श्रीएलाचार्यका नाम आता है और यह भी प्रसिद्ध है कि उमास्वातिके गुरु श्री एलाचार्य थे। अतः कुरलकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके पहलेकी है। यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।

कुरलकर्ता कुन्दकुन्द (एलाचार्य)

विक्रम सं०९९० में विद्यमान श्री देवसेनाचर्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थमें कुन्दकुन्दाचार्य नामके साथ उनके अन्य चार नामोंका उल्लेख करते हैं:—

पद्मनन्दि, वक्रग्रीवाचाय, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य।

श्री कुन्दकुन्दके गुरू द्वितीय भद्रबाहु थे ऐसा बोधप्राभृतकी निम्न लिखित गाथासे ज्ञात होता है:

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥

ये भद्रबाहु द्वितीय नान्दसंघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणसे ४९२ बाद हुए हैं।

कुरलकर्ताके अन्य ग्रन्थ तथा उनका प्रभाव

कुरलका प्रत्येक अध्याय अध्यात्म भावनासे ओतप्रोत है, इसलिए विज्ञपाठकके मनमें यह कल्पना सहज ही उठती है कि इसके कर्ता बड़े अध्यात्मरसिक महात्मा होंगे। और जब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि इसके रचयिता वे एलाचार्य हैं जो कि अध्यात्मचक्रवर्ती थे तो यह कल्पना यथार्थताका रूप धारण कर लेती है; कारण एलाचार्य जिनका कि अपर नाम कुन्दकुन्द है ऐसे ही अद्वितीय ग्रन्थोंके प्रणेता हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनके समयसारादि ग्रन्थोंको पढ़े बिना कोई यह नहीं कह सकता कि मैंने पूरा जैन तत्त्वज्ञान अथवा अध्यात्म विद्या जान ली। जिस सूक्ष्म तत्त्वकी विवेचनाशैलीका आभास उनके मुनि जीवनसे पहले रचे हुए कुरलकाव्यसे होता है वह शैली इन ग्रन्थोंमें बहुत ही अधिक परिस्फुट हो गई है। ये ग्रन्थ ज्ञानरत्नाकर हैं, जिनसे प्रभावित होकर विविध विद्वानोंने यह उक्ति निश्चत की हैं— हुए हैं न होयेंगे मुनीन्द्र कुन्दकुन्दसे ।'

पीछेके ग्रन्थकारोंने या शिलालेख लिखनेवालोंने कुन्दकुन्दको मूलसंघव्योमेन्दु' 'मुनींद्र' 'मुनिचक्रवर्ती' 'पदोंसे भूषित किया है। इससे हम सहजमें ही यह जान सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व कितना गौरवपूर्ण है। दिगम्बर जैनसंघके साधुजन अपनेको कुन्दकुन्द आम्नायका घोषित करनेमें सन्मान समझते हैं। वे शास्त्र-विवेचन करते समय प्रारम्भमें अवश्य पढ़ते हैं कि:—

'मगल भगवान वीरो मंगलं गौतमोऽग्रणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥'

इनके रचे हुए चौरासी प्राभृत (शास्त्र सुने जाते हैं पर अब वे पूरे नहीं मिलते, प्रायः नीचे लिखे ग्रन्थ ही मिलते हैं:—(१) समयसार, (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) अष्टपाहुड़, (५) नियमसार (६) (७) द्वादशानुप्रेक्षा (८) रयणसार, ये सब ग्रन्थ प्राकृत भाषामें हैं और प्रायः सबही जैन शास्त्र भण्डारोंमें मिलते हैं।

ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने कोण्डकुन्दपुरमें रहकर षट्खण्डागम पर बारह हजार श्लोक परिमित एक टीका लिखी थी जो अब दुष्प्राप्य है। समयसार ग्रन्थपर विविध भाषाओंमें अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। हिन्दीके प्राचीन महाकवि पं० बनारसीदासजीने इसके विषयमें लिखा है कि "नाटक पढ़त हिय फाटक खुलत है" समयसार प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ये तीनों ग्रन्थ विज्ञसमाजमें नाटकत्रयी नामसे प्रसिद्ध हैं और तीनों ही ग्रन्थ निःसन्देह आत्मज्ञानके आकर हैं।

इन सब ग्रन्थोंके पठन पाठनका यह प्रभाव हुआ कि दक्षिणापथसे उत्तरापथ तक आचार्यकी उज्वल कीर्ति छागई और भारतवर्षमें वे एक महान् आत्मविद्याके प्रसारक माने जाने लगे, जैसा कि श्रवणबेलगोलके चन्द्रगिरिस्थ निम्नलिखित शिलालेखसे प्रकट होता है:—

बन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-करांबुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥५॥

तपस्याके प्रभावसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यको 'चारण-ऋद्धि' प्राप्त हो गई थी जिसका कि उल्लेख श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है। तीनका उद्धरण हम यहाँ देते हैं :—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यःपद्मनन्दि प्रथमाभिधानः
श्रीकुण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः
श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचाय्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥
'रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-र्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

इन सब विवरणोंको पढ़कर हृदयको पूर्ण विश्वास होता है कि ऐसे ही महान् ग्रन्थकारकी कलमसे कुरलकी रचना होनी चाहिए।

कुरलकर्ताका स्थान :—

इस वक्तव्यको पढ़कर पाठकोंके मनमें यह विचार उत्पन्न अवश्य होगा कि कुरल आदि ग्रन्थोंके रचियता श्रीएलाचार्यका दक्षिणमें वह कौनसा स्थान है जहां पर बैठकर उन्होंने इन ग्रन्थोंका अधिकतर प्रणयन किया था: इस जिज्ञासाकी शान्तिके लिए हमें नीचे लिखा हुआ पद्य देखना चाहिए।

दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिमहात्मासीत्।
एलाचार्यो नाम्ना द्रविडगणाधीश्वरो धीमान् ॥

यह श्लोक एक हस्तलिखित 'मन्त्रलक्षण' नामक ग्रन्थमें मिलता हैं, जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देशके मलयप्रान्तमें हेमग्रामके निवासी थे, और द्रविड़संघके अधिपति थे। यह हेमग्राम कहाँ है इसकी खोज करते हुए श्रीयुत मल्लिनाथ चक्रवर्ती एम० ए० एल० टी० ने अपनी प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें लिखा है कि—'मद्रास प्रेसीडेन्सीके मलाया प्रदेशमें 'पोन्नूरगाँव' को ही प्राचीन समयमें हेमग्राम कहते थे और सम्भवतः यही कुण्डकुन्दपुर है, इसीके पास नीलगिरि पहाड़ पर श्रीएलाचार्यकी चरणपादुका बनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं, जहाँ पर बैठकर वे तपस्या करते थे। आस पासकी जनता आज भी ऐसा ही मानती है और बरसातके दिनोंमें उनकी पूजाके लिए वहाँ एक मेला भी प्रतिवर्ष भरता है, श्रीयुत स्व० जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजीने भी इसके दर्शनकर जैनमित्रमें ऐसा ही लिखा था।

देशकी तात्कालिक स्थिति

जब हम कुरलकी रचनाके समय देशकी तात्कालिक स्थिति पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि सारा देश उस समय ऋद्धि सिद्धिसे भरपूर था। विदेशियोंका प्रवेश न होनेसे वैभव अपनी पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ था। लौकिक सुख सहज ही प्राप्त होनेसे लोग उनकी लालसामें नहीं फंसे थे। किन्तु इस लोकमें अप्राप्त निजानन्द रसकी प्राप्तिमें संलग्न थे। इतिहाससे ज्ञात होता है कि उस समय जैनधर्म कलिङ्गकी तरह तामिल देशमें भी राष्ट्रधर्म था उसके प्रभावसे राजघरानोंमें भी शिक्षा और सदाचार पूर्णरूपेण विद्यमान था। अध्यात्मविद्याके पारगामी क्षत्री राजा बननेमें उतनी प्रतिष्ठा व सुख नहीं मानते थे जितना कि राजर्षि बननेमें, जिसके उदाहरण आचार्य समन्तभद्र (पाण्ड्यराजाकी राजधानी उरगपुरके राजपुत्र) शिलप्पदिकरम्के कर्ता युवराज राजर्षि (चेर राजपुत्र) और एलाचार्य हैं। उस समय क्षत्रीयगण शासक और शास्ता दोनों थे। स्वतन्त्र व धार्मिक भारत उस समय कैसे दिव्य विचार रखता था इसकी वानगीके लिए कुरल अच्छा काम देता है।

'वसुनन्दि-श्रावकाचार' का संशोधन

(पं० दीपचन्द पाण्ड्या और रतनलाल कटारिया, केकड़ी)

हमारा विशाल जैन वाङ्मय प्राकृत संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि विविध भाषाओंमें लिखा गया है। दुर्भाग्यवश उसमेंसे बहुत-सा साहित्य तो हमारे अज्ञान व प्रमादसे मन्दिरोंमें, शास्त्र भण्डारोंमें पड़ा पड़ा नष्ट हो गया तथा बहुत सा नष्ट होने को है और थोड़ा बहुत जो मुद्रित होकर प्रकाशमें आ पाया है, सखेद लिखना पड़ता है कि वह भी अनेकानेक अशुद्धियों से भरा पड़ा है। उदाहरणके तौर पर 'यशस्तिलक चम्पू' ग्रन्थको ही लीजिये; जिसके विना टीका वाले भागमें पूरी एक हजारके करीब अशुद्धियाँ हैं।[1] यही दशा नित्यपूजा, दशभक्ति और श्रावक प्रतिक्रमण पाठ आदिकी भी है। पूजा पाठ, जिनवाणी संग्रह और बृहज्जिनवाणी संग्रह तथा गुटकाओं आदिमें छपे हुए अशुद्ध पाठोंकी ओर जब हमारी दृष्टि जाती है तब हमें बहुत ही दुःख होता है। पढ़नेवाले अशुद्धियोंकी तरफ कोई लक्ष्य नहीं देते, किन्तु उन्हें उसी रूपमें पढ़ते जाते हैं। प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता इस बातका ध्यान रखना उचित ही नहीं समझते, इसी कारण हमारे पूजा पाठ भी अशुद्धियोंके पुंज बन रहे हैं। दानी महानुभाव यह नहीं सोचते कि हम इन अशुद्ध पाठोंको छपाकर और प्रचारमें लाकर कितना अनर्थ करते हैं? क्या पुस्तक विक्रेता और दानी महानुभाव इस बुराईको दूर करनेका यत्न करेंगे? और तो और, बहुश्रुत विद्वानों द्वारा सम्पादित हुए ग्रन्थोंकी[2] भी दशा अच्छी नहीं है। वे भी अनेक अशुद्धियोंसे परिपूर्ण हैं।

यद्यपि मूल ग्रंथकर्ता तो अपनी कृतियोंको शुद्धरूपमें ही प्रस्तुत करते हैं परन्तु अर्द्ध विदग्ध प्रतिलिपिकर्ताओंकी कृपासे उनमें कई अशुद्धियां बन जाती हैं। लिखित प्रतियोंमें तो वे अशुद्धियां एक प्रति तक ही सीमित रहती हैं पर मुद्रित प्रतियोंमें यह बात नहीं है वहाँ तो जो एक प्रतिमें अशुद्धि हो गई वही सब प्रतियोंमें हो गई समझिए। इस तरह मुद्रित प्रतियोंके सहारे इन अशुद्धियोंकी परम्परा प्रचारमें आकर बद्धमूल हो जाती हैं जो आगे चलकर अनेक भ्रान्त धारणाओंको जन्म देती रहती हैं। जिसके तीन बड़े मजेदार उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

---

१ देखो 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२ पृष्ट ७७ पर हमारा लेख यशस्तिलक का संशोधन'।

२ ऐसे ग्रन्थोंमें माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'वरांगचरित' और कारंजासे प्रकाशित सावय धम्म दोहा आदि हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१)

जातयोनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधाः
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः* ।

यह श्लोक मुद्रित प्रतिमें ठीक इसी रूपमें पाया जाता है। बादको पं० नाथूरामजी प्रेमीने और पं० श्रीलालजी पाटनीने इस श्लोकमें थोड़ासा पाठभेद और कर डाला है जो इस प्रकार है—

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियाऽपि तथा विधा
श्रुतिः शास्त्रन्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः × ।

और इस पद्यका अर्थ पं० श्रीलालजीने इन शब्दोंमें किया है—"सब जातियां अनादि हैं और उनकी क्रिया भी अनादि है। अंग शास्त्र या अंग बाह्य शास्त्र यदि उसके शास्त्रमें मिलें तो हमारी क्या क्षति है।"

यहाँ विचारणीय बात यह है कि 'सब जातियाँ अनादि हैं, तो वे कौन २ सी हैं? और उनकी क्रिया भी अनादि है तो वे कौन २ सी हैं? इसका उत्तर दिगम्बर साहित्यसे तो क्या समग्र भारतीय साहित्य—श्वेताम्बर, बौद्ध, एवं वैदिक साहित्यसे भी नहीं मिल सकता। तथा 'अंग शास्त्र और अंग बाह्यशास्त्र यदि उसके प्रमाणमें मिलें तो हमारी (जैनियोंकी) क्या क्षति है'—ऐसा उल्लेख करना भी समुचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि द्वादशाङ्गका ज्ञान तो कभीका लुप्त हो चुका, अंगबाह्यशास्त्र जैनोंको प्रमाण हैं ही ऐसी दशामें सोमदेवसूरि जैसे विद्वान जैनियोंके लिये उन्हें प्रमाण माननेको कैसे लिखें कि इसमें जैनोंकी क्या क्षति है। कुछ बुद्धिको लगता नहीं अतएव पं० श्रीलालजीवाला उक्त अर्थ चम्पू यशस्तिलकके पूर्वापर प्रसंगको देखते हुए संगत नहीं हो सकता। अतः इस पद्यके पाठ और अर्थके विषयमें तो 'भ्रमन्ति पण्डिता सर्वे' वाली उक्ति हो रही है।

हमने इस श्लोकका पाठ और अर्थ ग्रन्थके सन्दर्भानुकूल यह स्थिर किया है।

जात यौनादयः सर्वास्तत्क्रिया हि तथाविधाः
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वाऽस्तु प्रमाणं काऽत्र नः क्षतिः।

—अर्थात् जातकर्म और यौन (विवाह) आदि सारी तात्क्रिया—लौकिक क्रियाएं तथाविधा—लोकाश्रय हैं इस विषयमें श्रुति या शास्त्रान्तर प्रमाण हों तो हमारी क्या हानि है।

(२)

धवला टीकामें* 'अक्खवराडयादयो असब्भावट्ठवणा मंगलं' यह वाक्य है जिसका अर्थ पासे और कौड़ी-शतरंजकी गोटें आदिद्रव्योंको असद्भावस्थापना मंगल कहते हैं—किया गया है सो संगत नहीं है। क्योंकि वहाँ असद्भावस्थापना मंगलका कथन है। केवल यदि असद्भावस्थापनाका ही कथन होता तो फिर भी कौडी 'पासे परक अर्थ किसी तरह ठीक हो सकता था सो तो हैं नहीं असद्भावस्थापना मंगल' में कोडी पासोंको मांगलिक द्रव्यरूपमें ग्रहण करना जैन परम्पराके ही नहीं वैदिक-परम्पराके भी विरुद्ध है। प्रतिलिपिकारोंके द्वारा 'य' अक्षर छोड़ देनेसे यह सब घोटाला हुआ है। अतएव 'अक्खयवराडयादयो' ऐसा पाठ होना चाहिए जिसका अर्थ अक्षत कमलगट्टे आदि पदसे सुपारी प्रभृति माँगलिक द्रव्य ऐसा होना प्रकरण संगत होता है हमारे इस कथनकी पुष्टि वसुनंदि आवकाचारकी ३८४ वीं गाथासे भी होती है। गाथा इस प्रकार है:—

'अक्खयवराडओ वा अमुगो एसोत्ति णिययबुद्धीए
संकप्पऊण वयणं एसा विइया असब्भावा।'

(३)

वसुनन्दि × श्रावकाचारमें सम्पादकने जो एक पाठ 'सिरण्हाणुवट्टण···'आदि (गाथा २९३ को देखो) बना दिया है और अर्थमें शिरःस्नानके अतिरिक्त अन्य स्नानोंका प्रोषधोपवास वालेके लिये विधान कर दिया है सो यह समग्र जैन परम्पराके विरुद्ध है इसलिये 'सिरण्हाणु' की जगह सिण्हाण (स्नानार्थक) पाठ होना चाहिये।

---

* देखो निर्णयसार प्रेसमें मुद्रित यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्द्ध पृष्ठ ३७३

× देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित नीति वाक्यामृत (ग्रंथांक २२) की प्रस्तावना १ ३० और विजातीय विवाह आगम और युक्ति दोनोंके विरुद्ध है नामका ट्रेक्ट पृष्ठ ७७

* बुद्धीए समारोविद मंगलपज्जयपरिणद जीवगुण सरूवक्खवराडयादयो असब्भाव ट्ठवणा मंगलं।" यह पूरा वाक्य है। (देखो षट्खंडागम धवला टीका पुस्तकाकार संतपरूपणा पृष्ठ २० पंक्ति ५)

× यह ग्रंथ काशी भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह अशुद्ध पाठोंके प्रचारमें आनेसे ग्रन्थोंका महत्व तथा मूल लेखककी कीर्ति तो नष्ट होती ही है कई महापापकी कारणीभूत अन्यान्य विरुद्ध परम्पराएँ भी प्रचलित हो जाती हैं।

जैनाचार्योंने शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि व शब्दार्थ शुद्धि पूर्वक ग्रन्थाध्ययनको 'ज्ञानाचार'के आठ अंगों में समाविष्ट किया है और ऐसा अध्ययन भारतीय संस्कृतिमें सदासे इष्ट रहा है। यह तभी बन सकता है जबकि पाठ्य ग्रन्थ पूर्ण रूपेण शुद्ध हों। अभी अभी भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा श्रावकाचारका एक नया संस्करण प्रकाशित हुवा है। जिसका संपादन आधुनिक शैलीसे कलात्मक हुवा है साथमें प्रस्तावना परिशिष्ट आदिके लगा देनेसे ग्रन्थकी उपादेयता काफी बढ़ गई है पर ग्रन्थमें शुद्धिपत्र का न होना काफी खटकता है।

इस ग्रन्थके मूलकर्ता आचार्य वसुनन्दि हैं जो कुशल कवि थे और मूलाचार, भगवती आराधना आदि सिद्धान्तग्रन्थोंके मर्मज्ञ थे, अतएव वे सैद्धान्तिक कहलाते थे। मूलाचारकी वृत्ति+ इन्हींकी बनाई हुई प्रतीत होती है। 'श्रावकप्रतिक्रमण' 'ग्रन्थ' की❀ आलोचना भक्तिके अन्तर्गत पाई जानेवाली गाथाओंसे और प्रतिक्रमणभक्तिके अन्तर्गत पाई जानेवाली ग्यारह प्रतिमाओंके 'मिच्छा मे दुक्कडं' पाठ१ परसे स्पष्ट है कि श्रावकप्रतिक्रमण पाठका नूतन प्रतिसंस्कार शायद इन्हींका किया हुआ हो। इनका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्द है। आचार्य श्रीने अपने इस ग्रंथका नाम × 'सावय धम्मं'(गाथा २ में) और उवासयज्झयण—उपासकाध्ययन (गाथा ५४४ में) प्रकट किया है।

इस संस्करणके सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री दि० जैन समाजके एक मान हुए विद्वान् हैं। जिन्होंने धवला टीकाके सम्पादन कार्यमें भी अपना योग दिया है।

हमने उक्त संस्करणका अध्ययन किया तो इस बातसे बड़ा दुःख हुआ कि सम्पादकने मूलपाठके चय में काफी लापरवाहीसे काम लिया है जिससे मूलगाथाओंमें पर्याप्त अशुद्धियां रह गई हैं। प्रस्तुत लेखमें हम उनकी संशोधित तालिका नीचे दे रहे हैं :—

वसुनन्दि श्रावकाचारका पाठ संशोधन

गाथा संख्या		प्रतिका पाठ	शुद्ध पाठ
२	क	णायारो	अणयारो (१)
३	क	णं	×
७	क	अत्ता	अत्तो
१६	ख	ग्गहण	ग्गाहण
२२	ख	मइ	मई
२३	ख	सव्व गद	सव्व ग
२६	ख	पाहण	पाहाण
,,	,,	णाउं	णेआ
३३	क	मुत्ता	मोत्तुं ❀
,,	ख	तं परिणयं	तप्परिणइं
३४	ख	सत्ताभूओ सो ताणं	संततभूओ सो ताण (२)
३५	क	फलभोयओ	फलपभोयओ (३)
,,	ख	°भोया भोया	°भोया भावा (४)
३७	क	ताण पवेसो	णाणुपवेसो (५)
४६	ख	वच्छल्लं……सम्मत्ते	पूया अ वण्णं आदि (पाठान्तर) (६) देखो❀

+ तुलना कीजिए वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा २३ से ३८ तक मूलाचार षडावश्यकाधिकारकी ४८ वीं गाथाकी वृत्तिसे।

❀ गांधी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला पुष्प १३ में पृ० ४६ से ३४ तक की तव वायाणेयमावासव··· गाथाके अलावा शेष २४ गाथाएं और वासुनंद श्रावकाचारकी गाथा ५७, २०७ से २१६, २७१, २७२, २७५, २८० और २६५ से ३०१ को देखिये।

१ उसी श्रावक प्रतिक्रमण पृ० ६६ से ६६ पर शिक्षा व्रतोंके 'मिच्छा मे दुक्कडं' से वसुनंदि श्रावकाचार की गाथा २१७ से २१६ और २७१-२७२ से तुलना कीजिये।

× अपभ्रंशभाषाका 'सावयधम्मदोहा' ग्रंथका नामकरण भी इसी नाम परसे किया गया प्रतीत होता है।

१ अनगारः, २ स्वतंत्रभूतः, देखो, मूलाचारवृत्ति पृ० ४२३ आवश्यकाधिकार ७ की ४८वीं गाथा ३ फलप्रभोगतः। ४ तत्फलभोगाभावात् ५ न अनुप्रवेशः। ६ ग्रन्थकारने भगवती आराधनामें कथित गुणोंका भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५० ख	एसु सम्मा	एएसु सम्म
५१ क	णिस्संकाइ	णिस्संकाई
५२ ख	वणिगसुदा	वणिधूया
५३ क	रुद्दवर	रउरुए
५५ क	तामलित्त	तामलित्ति
५७ क	विसणाइं	वसणाइं
५८ ख	संसिद्धाइं	संसिट्ठाइं (७)
६१ ख	हिंडइ	हिंडए
६३ क	मायरं	मायरं ण
६३ ख	वुज्जाइं	चुज्जाइं (८)
६६ क	अक्खेहिं	अच्छीहि (९)
६७ ख	हणेइ	णिहणेइ
६८ क	दिण्णं ति	दियहं पि
६८ ख	अत्थइ	अच्छइ
७१ क	रत्थाय यंगणे	रत्थाए पंगणे※ (१०)
७२ ख	मिट्ठो	मिट्ठा (११)
७३ क	हिप्पइ	घिप्पइ
७७ क	अवराइं	अवराइंवि
८६ ख	तंपि वणिएए	तम्हि विणिए ए (१२)
८७ क	जहा···विप्पा	गयणगामिणो वि भुवि विप्पा
,, ख	भुवि	×
८८ क	पारसियाण	पारस्सियाण
८८ ख	भक्खेइ	भक्खइ
९० क	सामी मोत्तूण णत्थि	सामि मोत्तूण तं णा※ (१३)
९६ क	पलायमाणो णिरवराहो	पलायमाणे···णिरावरद्धे※
,, ख	हणिज्जइ	हणिज्जा※
१०२ ख	संतत्तो	संतट्ठो※ (१४)
१०३ ख	भय विट्ठो	भय-घत्थो※
१०४ ख	पबलेण	पच्चेल्लिउ※ (१५)
१७४ ख	किंचिणणं	किंचणं※ (१६)
१०८ क	जो हरइ	हरेइ※
१८९ अ	णेत्तुद्धारं	णेत्तुद्दारं (१७)
१०९ ख	सूला वा रोहणं	सूलावरोपणं (१८)
११६ क	कुल मज्जायं	कुलक्कमं※
११९ ख	पच्छियाओ	पत्थियाओ
१२० क	तत्थ	×
१२० क	मज्झम्मि	मज्झत्थारम्मि※
१२२ ख	चोरस्स	चोरु व्व
१२३ ख	दुच्चित्तो	भो चित्तं
१३५ ख	पूइ	पूई
१३९ क	ते बंढं	तं वट्टं (१९)
१३७ क	मही वीढे	मही पिट्ठे※
१४३ ख	जं	तुमं
१४७ ख	पज्जलयम्मि	पज्जलियम्मि
१४८ क	ज्झसरेहिं	ज्झसेहिं (२०)
१४९ क	मं मा	मं म
१५१ क	कह वि य माएण	कहँ व पमाएण※
१३८ क	उसिण	उण्ह
१५२ ख	णीइ	णियइ※
१५७ ख	,,	,, ※
१६० ख	छुहिंति	छुहंति
१६६ क	किकवाय	किकवाउ
१६७ ख	चुण्णो चुण्णी	चुण्णा चुण्णी
१६८ क	छेयण	छेयं
१६८ ख	केई	केइ
१७० ख	सुमरा विऊण	सुमरा वेऊण
१७९ क	खिल्ल विल्ल	खल्ल विल्ल (२१)
१८४ क	कोई	कोइ
१८८ क	तिस ओवि	तिसओ व
,, ख	कूवंतस्स	कूव्वंतस्स
,, ख	से देइ	सद्दहइ
१८९ क	सव्वहियाउ	बाहियाओ (२२)

संग्रह दिया है जो आगेकी गाथाके 'इच्चाइगुणा' शब्दसे संबद्ध हैं। ७ संसृष्टानि ८ आंखोंसे १० रौरुक नगरे ९ चुज्जाइं = आश्चर्यकराणि । देखो, पाइअसद्दमहण्णवो कोश ।

१० गलियोंमें या चौकमें ११ मीठी मद्य १२ मांस भक्षण में ये दोनों दोष १३ त्वा मुक्त्वा मम अन्यःस्वामी च १४ संत्रस्तः १५ प्रत्युत ।

१६ द्रव्यं १७ नेत्रोद्धारं=आंखें फोड़ी जाना, १८ सूली पर चढ़ाना १९ उसी वृत्तको—लोहेके गोलेको । २० अस्त्र विशेषैः । २१ खल्व विल्व न्यायसे । २२ बाधिका = बधाओंको ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६३ ख	जं त्रि कयं देवदुग्गयं	जं कयं देव दुग्गइं
१६६ क	कह णिल्लोए	कहं णिल्लोए
१६७ क	कस्स साहामि	कस्स व साहेमि
१६६ ख	जाइज्जा	जाएज्ज
२०२ ख	पाविज्जइ	पाविज्जा
,, ,,	जीवो	× ❀
२०५ क	परिहरेइ इय जो	इय जो परिहरइ
२२० क	पत्तंत्तर	पत्तंतह (१)
२२५ क	पणमं	णमणं
२२५ क	पडिगह मुच्चट्ठाणं	पडिगहण मुच्चठाणं
२२७ क	णिरवज्जाणु तह उच्च	णिरवज्जाणु वह दुच्च (२)
२२८ ख	णेवज्ज	णिवेज्ज
२३४ क	खाइमं	खाइय
२३५ क	रोडाणं	रोईणं (३)
२३६ क	परिपीडियं	परिपीडियं
१४२ क	किं पि	किंचि वि
२४७ ख	जायइ···जहण्णसु	जाइ···जहण्णासु
२४६ क	सुदिट्ठी	सुदिट्ठी मणुया
२६० क	सहस्सुत्तुंगा	सहस्स तुंगा
२६१ क	सक्कर समसाय	सक्करासाय
२६१ ख	केई	केइ
२६२ क	जोव्वणं तेहिं	जोव्वणंतेहिं (४)
२६६ क	तत्थाणु	तत्थणु
२६७ ख	विगहभया	विगदब्भयाइ❀ (५)
२६६ क	लहिऊण	लहिउं
२८० ख	चउस्सु	चउसु
२६० ख	णवर	णवरि
२६२ क	णिव्वयडी	णिव्वियडी ❀
२६३ क	सिरण्हाणुं	सिण्हाणुं
२६५ क	तुय	तय ❀
२६६ ख	जाणइ	जाण
३०० क	च	×
३०२ क	चयणं	वपणं ❀ (६)
,, ख	उवयरणेण	मिउ उवयरणेण (७)
३०४ क	चरियाय	चरियाए
३०६ क	पत्थेइ	एत्थेव (८)
३०७ ख	जाएज्ज	जाएज्जा (६)
३०६ क	काउंरिस गिहम्मि	काउंरिसि गोहण-म्मि ❀ (१०)
,, ख	णियमणं	णियमेण ❀
३१५ क	उंदुर	दद्दुर ❀ (११)
३१७ ख	परभवम्मि	परभवम्मि य
३२१ ख	दंसणो	दंसणे
३२४ क	वज्जिऊण तवसीणं	वज्जिउं तव-स्सीणं ❀
३२७ क	अफरस	अफरुस
३३१ ख	वट्टिज्जए	वट्टिज्जइ
३३३ ख	जणाणं	जणाओ ❀ (१२)
३३७ क	किलेस	संकिलेस
३३८ क	सिरसाणं मद्दण-अब्भंगसेव,	सिस्साण मद्दणब्भंगसेय
३३६ ख	उच्चरा	उच्चारा
३४१ क	संवेगाइय	संवेगाइ
३५१ का	पूर्वार्ध	आयंबिल णिव्वियडेय ठाण-छट्ठट्ठ माइ खवणेहिं
३५३ ख	पूजा	पुज्जा
३५२ ख	दिव्यभाए	दिव्यभोए
३६६ क	अट्ठट्ठम्मि ओ	अउट्ठमीओ
,, ख	तहा एयारस	तहेयारस
३७२ ख	सुहस्स वि	सुहं च वि
३७७ ख	णायव्वा	णायव्वो
३८४ क	वराड ओ वा	वराडयाइसु (१३)
,, ख	रूण	ऊण
३८६ क	विहि	विही

१ देखो, वरांगचरित जटिलकृत मार्ग ७ श्लोक २७। २ देखो, सागारधर्मामृत टीका अध्याय ५ का ४५ वां पद्य ३ रोगी पुरुषोंका। यौवनं अंते येषां ते, तैः। ५ विगत-अभ्रकादि, बादलोंका नष्ट होना आदि। ५ स्नान ६ 'मुण्डनं वपनं त्रिषु' इत्यमरः। ७ मृदु उपकरण पिछी आदिसे ८ यहां ही-मेरे घर पर ही। ६ मांगे (याचयेत्) १० ऋषि समुदाये कर्तुं न शक्येत्। ११ मेंढक (दर्दुर) १२ गुरुजनोंसे १३ अक्षत कमलगट्टे आदिमें, देखो धवला-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३९१ क	अंगंगीजा	अंगंगिज्झा (१)
४०७ ख	वडिलिय	वडलिय (२)
४०२ क	दिण्हे	दियहे
४०५ ख	कंदुत्थं	कंदुट्ठं
४७४ ख	,,	,,
४०८ ख	करावेए	कराबए
४१० क	णिविसिऊण	णिवेसिऊण
४१२ क	तविलेहिं	तिविलेहिं (३)
४१४ ख	विविहेहिं	च विविहेहिं
४१५ क	उच्चाह	उच्चार
४१७ क	गेहस्स	गिहस्स
४२१ क	य	+
४२२ क	तिसट्ठि	तेसट्ठि *
४२६ ख	खिविज्जि	खिवेज्ज
४२९ ख	पइट्ठय	पइट्ठ
४३० क	सुछंडिय	सुच्छडिय (४)

४३१—सारीकी सारी गाथा—

कणवीर-मल्लियाकंचणारमचकुन्दकिंकिराएहिं ।
सुरवण्णजूहिया पारिजाय-जासवण-वारेहिं ॥

४३५ क	थालि	थाल
४३६ क	पहोहामिय	पहोहुवमिय (५)
४३८ क	कप्पूर	तुरुक्क (६)
४३८ ख	परिमलायत्ति	परिमलापत्त (७)
४४१ क	पूई	पूइ
४४२ ख	धूवदहणाइ	भूयाणाईवि (८)
४५४ ख	जागरणं	जागरं
४५७ क	अहवा	अहव
,, क	सत्तीए	भत्तीए
४५९ ख	जं णियय	जिणरूवं (९)
४६० ख	तिरियम्मं तिरियए वीए	तिरियम्मि य तिरियय लोयं
४६१ ख	संध	खंध
,, ख	गोविज्जमया गीवं	गोविज्जं गीवाए
९६६ ख	णिविसिऊण	णिसिऊण
४६९ ख	,, ,,	,, ,,
४७२ क	णिव्वुडंतं	णिबुडुंतो
४७२ ख	किरण	कर
४७३ क	परिउट्ठो	परिउडो
४८१ ख	तित्थयर	तिव्वयर (१०)
४८३ क	णियमं	णियमा
४८५ क	वयणुतरूणी	वयण-त्तरुणि
४९४ ख	काल्लं	काले
५०० ख	अच्छर सयाउ	अच्छरसाओ
५०१ ख	वुड्डुण	बुड्डुण (११)
५०८ क	पंचसु	पंचसु य
५११ ख	अट्ठगुणें	अट्ठगुणीं
५११ ख	सिज्झइ	सज्झं
५२७ क	वीरिए	वीरिए य
५२९ क	णामा	णाम
५३१ ख	कवाड दंडं णियतणुपमाणंच,	कवाडदंड-तणुमाणं च
५३४ क	झाइए	झायए
५३८ क	तिसु	तीसु
५४१ ख	करेई	करेइ
५४१ ग	लीला व तिण्णो	लीलाए तिण्णो
,, ,,	तरण	तरणि
५४६ क	पण्णसु	पण्णासु

परिशिष्ट-संशोधन !

व्यावर भवनकी प्राचीनतम ग्रन्थ प्रतियों परसे स्पष्ट है कि ग्रंथकारको द्वितीय तृतीय आदि संस्कृत शब्दोंके विइय तइय आदि प्राकृतरूप—जो प्राकृत व्याकरणके नियमानुसार वर्गके प्रथम तृतीय व्यंजनको लोप करके अश्रुति और यश्रुतिपरक होते हैं—इष्ट थे और सम्पादक जीने ऐसे शब्दोंको जो मूल पाठमें स्थान न देकर उन्हें

टीका पुस्तकाकार संतपरुपणा पृष्ठ १४ । १ अंगैः ग्राह्या देखो धवला संत० पृष्ठ ६ । २ पटलितः आच्छादित । ३ त्रिविल-तबला वादित्र । ४ सुप्रमार्जित भूसा साफ किया हुआ । ५ प्रभापुंजके द्वारा सूर्य तेजकी उपमाको प्राप्त । ६ गाथामें त्तंद पद हैं जिसका अर्थ कपूर होता है अतः तुरुक्क-लोबाण पद संगत है । ७ सुगन्धिके कारण चारों ओर प्राप्त हुए हैं भ्रमर जिनके ऐसी । ८ पूजाके खर्चके लिए खेत जमीनका दान आदि ।

९ देखो गुणभूषण श्रा० का वाक्य टिप्पणीमें ।
१० तीव्रतर । (नकि तीर्थंकर) ११ मज्जन ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणीमें दिया है वह ठीक नहीं है । हमने ऐसे शब्दोंके अर्थ भेद न होनेसे इस विस्तृत तालिकामें नहीं लिया है ।

अशुद्धियां 'च' और 'व' को तथा 'प' और 'य' का ठीकसे नहीं पढ़नेके कारण हो गई हैं जिनमें बुज्जाह चयणं, रत्थाययंगणे, द्विवणं आदि है और उनका शुद्धरूप चुज्जाइं वपणं, रत्थारापंगणे किंचणं आदि होता है जो तालिकामें दे दिया गया है ।

ग्रन्थकारको व्यसन और निवृत्ति शब्दोंके प्राकृतरूप वसण और णियत्ती इष्ट थे नकि विसण, णिबुत्ती । इतने पर भी कुछ स्थल हमें अब भी अस्पष्ट जंचते हैं और वे स्थल निर्देश पूर्वक नीचे दिये जाते हैं—

१३७ क पज्जत्तयओ दंडत्ति,''' १६२ क ठिइज्ज''', ३०६ की सारी गाथा । ३४३ ख अयतो वि'''४३२ ख टगरेहि तथा सुरवणज'''। ४३३ क मेहिय'''४३६ ख मंदंचल'''

इनके स्पष्ट पाठ पहले हमारे संग्रहमें थे जो पं० परमानन्द जीके पास उनके उपयोगके लिए बहुत पहले भेजे जानेके कारण सम्प्रति हमारे पास नहीं हैं सो वह पण्डितजी प्रकट करें ।

इस लेखके संकेतः— (संशोधन तालिकामें)

* ऐसे चिन्ह वाले सन्शोधन गाथाओंके पद टिप्पणमें भी देखिए क, ख से मतलब गाथाके पूर्वार्ध और उत्तरार्धसे हैं ।

उपसंहार

समाजमें ग्रन्थोंका शुद्ध प्रचार हो इस हेतु यह संशोधात्मक लेख लिखा गया है, किसी दुरभिसंधिवश नहीं । यदि स्वाध्यायी जन इस लेखका समुचित उपयोग करके लाभ उठायेंगे और हमारा उत्साह बढ़ावेंगे तो भविष्यमें ऐसे ही लेख फिर प्रस्तुत किये जायेंगे ।

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके चाहिये कि वह वसुनन्दि श्रावकाचार' की अशुद्धियोंकी ओर ध्यान दे और उनका संशोधन ग्रन्थमें लगा कर पाठकोंके लिए सुविधा प्रदान करे, तथा भविष्यमें इस ओर और भी अधिक सावधानी रखनेका यत्न करेगी ।

अनेक यात्राओंका सुगम अवसर ?

गुजरनेको गुजर जाती हैं उमरे शादमानीमें,
मगर यह कम मिला करते हैं, मौके जिंदगानीमें ॥

आल इण्डिया चन्द्रकीर्त्ति जैन यात्रा संघ देहली

(गवर्नमेन्ट आफ इण्डियासे रजिस्टर्ड)

सुविधा पूर्वक, कम खर्चमें, कम समय आरामसे धार्मिक साधनोंके साथ प्रथम—

श्री सम्मेदशिखरजीकी ओर—

भ्रमण, तीर्थयात्रा, अवकाश पुण्य संचय. इस चतुर्मुखी ध्येयको लेकर ही अन्य वर्षोंकी भांति इस वर्ष भी अनेक स्नेही बन्धुगणोंके अतीव आग्रहसे मंगशिर मासमें नवम्बर सन् १९५३ के आखिरी सप्ताहमें जानेका निश्चय किया है । बुन्देलखण्ड तथा उत्तर पूर्वीय जैन तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा जिसमें मुख्तया पूज्य वर्णीजीके दर्शन व उपदेश लाभ, चम्पापुर, पावापुर, कुण्डलपुर, श्री सम्मेद शिखरजी आदि उस प्रान्तके सभी प्रमुख तीर्थ क्षेत्र व कानपुर, लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद आदि विशाल शहरोंका सुन्दर आयोजन है । समय लगभग १। माह होगा । विशेष विवरण व जानकारीको निम्न पते पर लिखें—प्रस्थान २७ दिसम्बर सन् १९५३ सीट खर्च—११५) सीट बुक ७ दिसम्बर तक ।

हेड आफिस—आल इण्डिया चन्द्रकीर्ति जैन यात्रा संघ,

(रजिस्टर्ड) २२९३ धरमपुरा, देहली ।

नोट—हमारा दूसरा संघ गिरनार बाहुबली आदि विशाल यात्राओंको समय २ मासके लिए इस वर्ष भी जनवरी सन् १९५४ के सप्ताहमें जाना निश्चित है । इस वर्ष यात्री संख्या बहुत थोड़ी ले जाना है । अतः सीटें शीघ्र ही रिजर्व करा लेवें । प्रोग्रामको लिखें ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुवयणमविणट्ठं ॥११॥
दव्वं-पज्जव विउयं दव्व-विजुत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा होदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥
एए पुण संगहओ पडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि ।
तम्हा मिच्छदिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥१३॥

इन गाथाओंमें बतलाया है कि—'पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य (सामान्य) नियमसे अवस्तु है। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें पर्यार्थिक नयका वक्तव्य विशेष अवस्तु है। पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिमें सब पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें न कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है। द्रव्य पर्यायके (उत्पाद-व्ययके) बिना और पर्याय द्रव्यके (ध्रौव्यके) बिना नहीं होते; क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्यमें तीनों द्रव्य-सत्का अद्वितीय लक्षण हैं; ये (उत्पादादि) तीनों एक दूसरेके साथ मिल कर ही रहते हैं, अलग अलग रूपमें—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए—मिथ्यादृष्टि हैं। अर्थात् दोनों नयोंमें से जब कोई भी नय एक दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही विषयको सत् रूप प्रतिपादन करनेका आग्रह करता है तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशमें पूर्णताका माननेवाला होनेसे मिथ्या है और जब वह अपने प्रतिपक्षीनयकी अपेक्षा रखता हुआ प्रवर्तता है—उसके विषयका निरसन न करता हुआ तटस्थ रूपसे अपने विषय (वक्तव्य) का प्रतिपादन करता है—तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशको अंशरूपमें ही (पूर्ण-रूपमें नहीं) माननेके कारण सम्यक् व्यपदेशको प्राप्त होता है—सम्यग्दृष्टि कहलाता है।'

ऐसी हालतमें जिनशासनका सर्वथा 'नियत' विशेषण नहीं बनता। चौथा 'अविरोध' विशेषण भी उसके साथ संगत नहीं बैठता; क्योंकि जिनशासन अनेक विषयोंके प्ररूपणादि सम्बन्धी भारी विशेषताओंको लिये हुए है, इतना ही नहीं बल्कि अनेकान्तात्मक स्याद्वाद उसकी सर्वोपरि विशेषता है जो अन्य शासनोंमें नहीं पाई जाती। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें लिखा है कि 'स्याच्छब्दस्तावके न्याये नाऽन्येषामात्मविद्विषाम्(१०२) अर्थात् 'स्यात्' शब्दका प्रयोग आपके ही न्यायमें है, दूसरों के न्यायमें नहीं, जो कि अपने वाद (कथन) के पूर्व उसे न अपनानेके कारण अपने शत्रु आप बने हुए हैं। साथ ही यह भी प्रतिपादन किया है कि जिनेन्द्रका 'स्यात्' शब्द पुरस्सर कथनको लिये हुये जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन (शासन) है—वह दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगमादिक) का अविरोधक होनेसे अनवद्य (निर्दोष) है, जबकि दूसरा 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन (शासन) नहीं है, क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोंके बोधको लिये हुये है (१३८) अकलंकदेवने तो स्याद्वादको जिनशासनका अमोघलक्षण बतलाया है जैसाकि उनके निम्न सुप्रसिद्ध वाक्यसे प्रकट है—

श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादाऽमोघलांछनम् ।
त्रीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' में श्रीवीर-जिनके शासनको एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्तिसे सम्पन्न बतलाते हुए, जिन विशेषोंकी विशिष्टता से अद्वितीय प्रतिपादित किया है वे निम्न कारिकासे भले प्रकार जाने जाते हैं—

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताऽञ्जसार्थं ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

इसमें बताया है कि वीरजिनका शासन दया, दम, त्याग और समाधिकी निष्ठा-तत्परताको लिये हुए हैं, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करने वाला है और अनेकान्तवादसे भिन्न दूसरे सभी प्रवादों (प्रकल्पित एकान्तवादों) से अबाध्य है, (यही सब उसकी विशेषता है) और इसीलिये वह अद्वितीय है सर्वाधिनायक होनेकी क्षमता रखता है।

और श्रीसिद्धसेनाचार्यने जिन-प्रवचन (शासन) के लिए 'मिथ्यादर्शन समूहमय' 'अमृतसार' जैसे जिन विशेषणोंका प्रयोग सन्मतिसूत्रकी अन्तिम गाथामें किया है उनका उल्लेख ऊपर आ चुका है, यहाँ उक्त सूत्रकी पहली गाथाको और उद्धृत किया जाता है जिसमें जिनशासनके दूसरे कई महत्वके विशेषणोंका उल्लेख है—

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमय-विसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥

इसमें भावको जीतने वाले जिनों-अर्हन्तोंके-शासनको चार विशेषणोंसे विशिष्ट बतलाया है—१ सिद्ध अकल्पित एवं प्रतिष्ठित २ सिद्धार्थोंका स्थान (प्रमाणसिद्ध पदार्थोंका प्रतिपादक) ३ शरणागतोंके लिये अनुपम सुखस्वरूप मोक्ष-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुख तककी प्राप्ति कराने वाली ४ कुसमयोंके शासनका निवारक (सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेकर शासनरूढ बने हुए सब मिथ्यादर्शनोंके गर्वको चूर चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न)।

स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव जैसे महान् जैनाचार्योंके उपर्युक्त वाक्योंसे जिनशासनकी विशेषताओं या उसके सविशेषरूपका ही पता नहीं चलता बल्कि उस शासनका बहुत कुछ मूलस्वरूप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। परन्तु इस स्वरूप कथनमें कहीं भी शुद्धात्माको जिनशासन नहीं बतलाया गया, यह देखकर यदि कोई लब्धज्ञान उक्त महान् आचार्योंको, जो कि जिनशासनके स्तम्भस्वरूप माने जाते हैं, 'लौकिकजन' या 'अन्यमती' कहने लगे और यह भी कहने लगे कि 'उन्होंने जिनशासनको जाना या समझा तक नहीं' तो विज्ञपाठक उसे क्या कहेंगे, किन शब्दोंसे पुकारेंगे और उसके ज्ञानकी कितनी सराहना करेंगे यह मैं नहीं जानता, विज्ञपाठक इस विषयके स्वतन्त्र अधिकारी हैं और इसलिये इसका निर्णय मैं उन्हीं पर छोड़ता हूँ। यहाँ तो मुझे जिनशासन सम्बन्धी इन उल्लेखों द्वारा सिर्फ इतना ही बतलाना या दिखलाना इष्ट है कि सर्वथा 'अविशेष' विशेषण उसके साथ संगत नहीं हो सकता। और उसीके साथ क्या किसीके भी साथ वह पूर्णरूपेण संगत नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा कोई भी द्रव्य, पदार्थ या वस्तु विशेष नहीं है जो किसी भी अवस्थामें पर्याय भेद विकल्प या गुणको लिये हुए न हो। इन अवस्था तथा पर्यायादिका नाम ही 'विशेष' है और इसलिये जो इन विशेषोंसे सर्वथा शून्य है वह अवस्तु है। पर्यायके बिना द्रव्य और द्रव्यके बिना पर्याय होते ही नहीं, दोनोंमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। इस सिद्धान्तको स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने भी अपने पंचास्तिकाय ग्रन्थकी निम्न गाथामें स्वीकार किया है और उसे श्रमणोंका सिद्धान्त बतलाया है।

पज्जव विजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जवा णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥ १२ ॥

ऐसी हालतमें शुद्धात्मा भी इस श्रमण-सिद्धान्तसे बहिर्भूत नहीं हो सकता, उसे जो अविशेष कहा गया है वह किस दृष्टिको लिये हुए है इसे कुछ गहराईमें उतर कर जानने की जरूरत है। मात्र यह कह देनेसे काम नहीं चलेगा कि शुद्धनयकी दृष्टिसे वैसा कहा गया है; क्योंकि कोई भी सम्यक्नय ऐसा नहीं है जो नियमसे शुद्ध जातीय हो—अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो। जैसा कि सिद्धसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा णत्थि णओ णियम सुद्ध जातीओ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोई भयणा उ विसेसो ॥६०॥

जो नय अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो वह सम्यक्नय न होकर मिथ्यानय है, आचार्य सिद्धसेनने उसे दुर्निक्षिप्त शुद्धनय (अपरिशुद्धनय) बतलाया है और लिखा है कि वह स्व-पर दोनों पक्षोंका विघातक होता है।

रहा पाँचवाँ 'असंयुक्त' विशेषण, वह भी जिनशासन के साथ लागू नहीं होता; क्योंकि जो शासन अनेक प्रकारके विशेषोंसे युक्त है, अभेद भेदात्मक अर्थतत्त्वोंकी विविध कथनीसे संगठित है, और अंगों आदिके अनेक सम्बन्धोंको अपने साथ जोड़े हुए है उसे सर्वथा असंयुक्त कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

इस तरह शुद्धात्मा और जिनशासनको एक बतलानेसे शुद्धात्माके पाँच विशेषण जिनशासनको प्राप्त होते हैं वे उसके साथ संगत नहीं बैठते। इसके सिवा शुद्धात्मा केवलज्ञानस्वरूप है, जब कि जिनशासनके द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ऐसे दो मुख्य भेद किये जाते हैं, जिनमें भावश्रुत श्रुतज्ञानके रूपमें है, जिसका केवलज्ञानके साथ और नहीं तो प्रत्यक्ष परोक्षका भेद तो है ही। रहा द्रव्यश्रुत, वह शब्दात्मक हो या अक्षरात्मक दोनों ही अवस्थाओंमें जड़ रूप है—ज्ञानरूप नहीं। चुनाँचे श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भी 'सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण जाणए किंचि। तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति॥' इत्यादि गाथाओंमें ऐसा ही प्रतिपादन किया है और शास्त्र तथा शब्दको ज्ञानसे भिन्न बतलाया है। ऐसी हालतमें शुद्धात्माके साथ द्रव्यश्रुतका एकत्व स्थापित नहीं किया जा सकता और यह भी शुद्धात्मा तथा जिनशासनको एक बतलानेमें बाधक है।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि स्वामी जीके प्रवचन लेखके प्रथम पैराग्राफमें जो यह लिखा है कि—

"शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है; इसलिये जो जीव अपने शुद्धात्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है।—यह बात श्री आचार्यदेव समयसारकी पन्द्रहवीं गाथामें कहते हैं:—"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह सर्वांशमें ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त गाथामें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने ऐसा कहीं भी नहीं कहा कि जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है' और न 'इसलिये' अर्थका वाचक कोई शब्द ही गाथामें प्रयुक्त हुआ है। यह सब स्वामीजीकी निजी कल्पना है। गाथामें जो कुछ कहा गया है उसका फालतार्थ इतना ही है कि 'जो आत्माको अबद्धस्पृष्टादि विशेषणोंके रूपमें देखता है वह समस्त जिनशासनको भी देखता है।' परन्तु कैसे देखता है? शुद्धात्मा होकर देखता है या अशुद्धात्मा रह कर देखता है। किस दृष्टिसे या किन साधनोंसे देखता है, और आत्माके इन विशेषणोंका जिनशासनको पूर्ण रूपमें देखनेके साथ क्या सम्बन्ध है और वह किस रीति-नीतसे कार्यमें परिणत किया जाता है यह सब उसमें कुछ बतलाया नहीं। इन्हीं सब बातोंको स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत थी और इन्हींसे पहली शंकाका सम्बन्ध था, जिन्हें न तो स्पष्ट किया गया है और न शंकाका कोई दूसरा समाधान ही प्रस्तुत किया गया है—दूसरी बहुत सी फालतू बातोंको प्रश्रय देकर प्रवचनको लम्बा किया गया। क्रमशः

जि....न....शा....स..न

जिनशासनको कब यथार्थ जाना कहा जाता है?

[श्री कानजीस्वामी सोनगढ़का वह प्रवचन लेख जो आत्मधर्मके गत आश्विन मास अङ्क ७ के शुरूमें प्रकाशित हुआ है, जिस पर 'अनेकान्त' की इसी किरणके शुरूमें विचार किया गया है।]

शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है; इसलिये जो जीव अपने शुद्ध आत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है।—यह बात श्री आचार्यदेव समयसारकी पन्द्रहवीं गाथामें कहते हैं :—

यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं, पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

इस गाथामें आचार्यदेवने जैनदर्शनका मर्म खोलकर रक्खा है। जो इन अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावोंरूप आत्माकी अनुभूति है वह निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है; जिसने ऐसे शुद्ध आत्माको जाना उसने समस्त जिनशासनको जान लिया। समस्त जिनशासनका सार क्या? —अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करना। शुद्ध आत्माके अनुभवसे वीतरागता होती है और वही जैन धर्म है; जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जनधर्म नहीं है। 'मैं बंधनवाला अशुद्ध हूँ'—इस प्रकार जो पर्यायदृष्टिसे अपने आत्माको अशुद्ध ही देखता है उसके रागकी उत्पत्ति होती है और राग है वह जैनशासन नहीं है; इसलिये जो अपने आत्माको अशुद्धरूपही देखता है परन्तु शुद्ध आत्माको नहीं देखता उसे जिनशासनकी खबर नहीं है। आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त ही देखने वाला जीव जिनशासनसे बाहर है। जो जीव आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त ही देखता है उसके वीतरागभावरूप जैनधर्म नहीं होता। अन्तरस्वभावकी दृष्टि करके जो अपने आत्माको शुद्धरूप जानता है उसीके वीतरागभाव प्रकट होता है और वही जैनधर्म। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव अपने आत्माको कर्मके सम्बन्धरहित एकाकार विज्ञानघर्म स्वभावरूप देखता है वह समस्त जैनशासनको देखता है।

देखो यह जैन शासन! लोग बाह्यमें जैनशासन मान बैठे हैं, परन्तु जैनशासन तो आत्माके शुद्धस्वभावमें है। कई लोगों को ऐसी भ्रमणा है कि जैनधर्म तो कर्मप्रधान धर्म है; लेकिन यहाँ तो आचार्यदेव स्पष्ट कहते हैं कि आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त देखना वह वास्तवमें जैनशासन नहीं है परन्तु कर्म के सम्बन्धसे रहित शुद्ध देखना वह जैनशासन है। जैनशासन कर्मप्रधान तो नहीं है, परन्तु कर्मके निमित्तसे जीवकी पर्यायमें जो पुण्यपापरूप विकार होता है उस विकारको प्रधानता भी जैनशासनमें नहीं है। जैनधर्ममें तो ध्रुव-ज्ञायक पवित्र आत्मस्वभावकी ही प्रधानता है; उसकी प्रधानतामें ही वीतरागता होती है। विकारकी या परकी प्रधानतामें नहीं होती इसलिये उसकी प्रधानता वह जैनधर्म नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो जीव स्वोन्मुख होकर अपने ज्ञायक परमात्मतत्त्वको न समझे उस जीवने जैनधर्म प्राप्त नहीं किया है और जिसने अपने ज्ञायक परमात्मतत्त्वको जाना है वह समस्त जैनशासनके रहस्यको प्राप्त कर चुका है। अपने शुद्ध ज्ञायक परमात्मतत्त्वकी अनुभूति वह निश्चयसे समग्र जिनशासनकी अनुभूति है। कोई जीव भले ही जैनधर्म में कथित नवतत्त्वोंको व्यवहारसे मानता हो, भले ही ग्यारह अंगोंका ज्ञाता हो और भले ही जैनधर्ममें कथित व्रतादिकी क्रिया करता हो; परन्तु यदि वह अंतरंगमें परद्रव्य और परभावोंसे रहित शुद्ध आत्माको न जानता हो तो वह जैनशासनसे बाहर है, उसने वास्तवमें जैन-शासनको नहीं जाना है।

'भावप्राभृत'में शिष्य पूछता है कि—जिनधर्मको उत्तम कहा, तो उस धर्मका स्वरूप क्या है? उसके उत्तरमें आचार्यदेव धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि:—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

जिनशासनके सम्बन्धमें जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है कि—पूजादिकमें तथा जो व्रतसहित हो उसमें तो पुण्य है और मोह-क्षोभ रहित आत्माके परिणाम वह धर्म है।

कोई-कोई लौकिकजन तथा अन्यमती कहते हैं कि पूजादिक तथा व्रत-क्रियासहित हो वह जैनधर्म है; परन्तु ऐसा नहीं है। देखो, जो जीव-व्रत-पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं उन्हें 'लौकिकजन' और 'अन्यमती' कहा है। जैनमतमें जिनेश्वर भगवानने व्रत-पूजादिके शुभभावको धर्म नहीं कहा है, परन्तु आत्माके वीतरागभावको ही धर्म कहा है। वह वीतराग-भाव कैसे होता है?—शुद्ध आत्मस्वभावके अवलम्बन से ही वीतरागभाव होता है; इसलिये जो जीव शुद्ध आत्माको देखता है वही जिनशासनको देखता है। सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र भी शुद्ध आत्माके अवलम्बनसे ही प्रगट होते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष-मार्गका समावेश भी शुद्ध आत्माके सेवनमें हो जाता है; और शुद्ध आत्माके अनुभवसे जो वीतरागभाव प्रगट हुआ उसमें अहिंसाधर्म भी आ गया तथा उत्तम क्षमादि दस प्रकारके धर्म भी उसमें आ गये। इसप्रकार जिन-जिन प्रकारोंसे जैनधर्मका कथन है उन सर्व प्रकारोंका समावेश शुद्ध आत्माके अनुभवमें हो जाता है, इसलिये शुद्ध आत्माकी अनुभूति वह समस्त जिनशासनकी अनुभूति है।

अहो! इस एक गाथामें श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवने जैनदर्शनका अलौकिक रहस्य भर दिया है; जैनशासन का मर्म क्या है—वह इस गाथामें बतलाया है।

आत्मा ज्ञानघनस्वभावी है; वह कर्मके सम्बन्धसे रहित है। ऐसे आत्मस्वभावको दृष्टिमें न लेकर कर्मके सम्बन्धवाली दृष्टिसे आत्माको लक्षमें लेना सो रागबुद्धि है, उसमें रागकी—अशुद्धताकी उत्पत्ति होती है इसलिये वह जैनशासन नहीं है। भले ही शुभ विकल्प हो और पुण्य बँधे, परन्तु वह जैनशासन नहीं है। आत्माको असंयोगी शुद्ध ज्ञानघनस्वभावरूपसे दृष्टिमें लेना सो वीतरागदृष्टि है और उस दृष्टिमें वीतरागताकी ही उत्पत्ति होती है इसलिये वही जैनशासन है। जिससे रागकी उत्पत्ति हो और संसार परिभ्रमण हो वह जैनशासन नहीं है, परन्तु जिसके अवलम्बनसे वीतरागताकी उत्पत्ति हो और भवभ्रमण मिटे वह जैनशासन है।

आत्माकी वर्तमान पर्यायमें अशुद्धता तथा कर्मका सम्बन्ध है; परन्तु उसके त्रिकाली सहजस्वभावमें अशुद्धता या कर्मका सम्बन्ध नहीं है, त्रिकाली सहज-स्वभाव तो एकरूप विज्ञानघन है। इस प्रकार आत्माके दोनों पक्षोंको जानकर, त्रिकाली स्वभावकी महिमाकी ओर उन्मुख होकर आत्माका शुद्धरूपसे अनुभव करना वह सच्चा अनेकान्त है और वही जैनशासन है। ऐसे शुद्ध आत्माकी अनुभूति ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

मैं विकारी और कर्मके सम्बन्धवाला हूँ—इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे लक्षमें लेना वह तो रागकी उत्पत्तिका कारण है; और यदि उसके आश्रयसे लाभ माने तो मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है। इसलिये आत्माको कर्मके सम्बन्धवाला और विकारी देखना वह जैनशासन नहीं है। दूसरे प्रकार से कहा जाये तो आत्माको पर्यायबुद्धिसे ही देखनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। पर्यायमें विकार होने पर भी उसे महत्व न देकर द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध आत्माका अनुभव करना वह सम्यग्दर्शन और जैनशासन है। अन्तरमें ज्ञानरूप भावश्रुत और बाह्यमें भगवानकी वाणीरूप द्रव्यश्रुत—इन सबका सार यह है कि ज्ञानको अन्तरस्वभावोन्मुख करके आत्माकी शुद्ध अबद्धस्पृष्ट देखना चाहिए। जो ऐसे आत्माको देखे उसीने जैनशासनको जाना है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसीने सर्व भावश्रुतज्ञान तथा द्रव्यश्रुतज्ञानको जाना है। भिन्न भिन्न अनेक शास्त्रोंमें अनेकप्रकारकी शैलीसे कथन किया हो; परन्तु उन सर्व शास्त्रोंका मूल तात्पर्य तो पर्याय बुद्धि छुड़ाकर ऐसा शुद्ध आत्माही बतलानेका है। भगवान-की वाणीके जितने कथन हैं उन सबका सार यही है कि शुद्ध आत्माको जानकर उसका आश्रय करो। जो जीव ऐसे शुद्ध आत्माको न जाने वह अन्य चाहे जितने शास्त्र जानता हो और व्रतादिका पालन करता हो, तथापि उसने जैनशासनको नहीं जाना है।

जैनशासनमें कथित आत्मा जब विकाररहित और कर्मके सम्बन्ध रहित है, तब फिर इस स्थूल शरीरके आकारवाला तो वह कहाँसे हो सकता है ? जो ऐसे आत्माको नहीं जानता और जड़-शरीरके आकारसे आत्मा को पहिचानता है उसने जैनशासनके आत्माको नहीं जाना है। वास्तवमें भगवानकी वाणी कैसा आत्मा बतलानेमें निमित्त है ?—अबद्धस्पृष्ट एकरूप शुद्ध आत्माको भगवान की वाणी बतलाती है; और जो ऐसे आत्माको समझता है वही जिनवाणीको यथार्थतया समझा है। जो ऐसे अबद्धस्पृष्ट भूतार्थ आत्मस्वभावको न समझे वह जिनवाणी को नहीं समझा है। कोई ऐसा कहे कि मैंने भगवानकी वाणीको समझ लिया है परन्तु उसमें कथितभावको (—अबद्ध-स्पृष्ट शुद्ध आत्मस्वभावको) नहीं समझ पाया, —तो आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तवमें वह जीव भगवानकी वाणीको भी नहीं समझा है और भगवानकी वाणीके साथ धर्मका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध उसके प्रगट नहीं हुआ है। स्वयं अपने आत्मामें शुद्ध आत्माके अनुभवरूप नैमित्तिकभाव प्रगट नहीं किया उसको भगवान की वाणी धर्मका निमित्त भी नहीं हुई; इसलिये वह वास्तवमें भगवानकी वाणीको समझा ही नहीं है। भगवानकी वाणीको समझ लिया—ऐसा कब कहा जाता है ?—कि जैसा भगवानकी वाणीमें कहा है वैसा भाव अपने में प्रगट करे तभी वह भगवानकी वाणीको समझा है और वही जिनशासनमें आ गया है। जो जीव ऐसे आत्माको न जाने वह जैनशासनसे बाहर है।

बाह्यमें जड़ शरीरकी क्रियाको आत्मा करता है और उसकी क्रियासे आत्माको धर्म होता है—ऐसा जो देखता है (मानता है) उसे तो जैनशासनकी गंध भी नहीं है। तथा कर्मके कारण आत्माको विकार होता है या विकार-भावसे आत्माको धर्म होता है—यह बात भी जैनशासनमें नहीं है। आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह बाह्यमें शरीरादिकी क्रिया नहीं करता; शरीरकी क्रियासे उसे धर्म नहीं होता; कर्म उसे विकार नहीं करता और न शुभ-अशुभ विकारी भावोंसे उसे धर्म होता है। अपने शुद्ध विज्ञानघन स्वभावके आश्रयसे ही उसे वीतरागभावरूप धर्म होता है। जो जीव ऐसे शुद्ध आत्माको अन्तरमें नहीं देखता और कर्मके निमित्त आत्माकी अवस्था में होनेवाले क्षणिक विकार जितना ही आत्माको देखता है वह भी जैनशासनको नहीं देखता; कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहित जो सहज एकरूप शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा है उसे जीव शुद्धनयसे देखता है उसीने सर्व शास्त्रोंके सारको समझा है।

(१) जैनशासनमें कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान कराते हैं; परन्तु जीवको वहीं रोक रखने-का उसका प्रयोजन नहीं है वह तो उस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी दृष्टि छुड़ाकर असंयोगी आत्मस्वभावकी दृष्टि कराता है। इसलिये कहा है कि जो जीव कर्मके सम्बन्ध रहित आत्माको देखता है वह सर्व जिनशासनको देखता है।

(२) मनुष्य, देव, नारकी इत्यादि पर्यायोंसे देखने पर अन्य अन्यपना होने पर भी आत्माको उसके ज्ञायक स्वभा-वसे एकाकार स्वरूप देखना ही जैनशासनका सार है। पर्यायदृष्टिसे आत्मामें भिन्न-भिन्नपना होता अवश्य है और शास्त्रोंमें उसका ज्ञान कराते हैं; परन्तु उस पर्याय जितना ही आत्मा बतलानेका जैनशासनका आशय नहीं है; किन्तु एकरूप ज्ञायक बिम्ब आत्माको बतलाना ही शास्त्रोंका सार है; तथा ऐसे आत्माके अनुभवसे ही सम्यग्ज्ञान होता है। जिसने ऐसे आत्माका अनुभव किया उसने द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप जैनशासनको जाना है।

(३) आत्माकी अवस्थामें ज्ञान-दर्शन-वीर्य इत्यादि की न्यूनाधिकता होती है, परन्तु ध्रुवस्वभावसे देखने पर आत्मा हीनाधिकतारहित सदा एकरूप निश्चल है। पर्या-यकी हीनाधिकताके प्रकारोंका शास्त्रने ज्ञान कराया है; परन्तु उसीमें रोक रखनेका शास्त्रका आशय नहीं है; क्योंकि पर्यायकी अनेकताके आश्रयमें रुकनेसे एकरूप शुद्ध आत्माका स्वरूप अनुभवमें नहीं आता। शास्त्रोंका आशय तो पर्यायका—व्यवहारका आश्रय छुड़वाकर नियत—एक-रूप ध्रुव आत्मस्वभावका अवलम्बन करानेका है; उसीके अवलम्बनसे मोक्ष मार्गकी साधना होती है। ऐसे आत्म-भावका अवलम्बन लेकर अनुभव करना सो जैनशासनका अनुभव है। पर्यायके अनेक भेदोंकी दृष्टि छोड़कर अभेद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिसे शुद्ध आत्माका अनुभव करना—वह शास्त्रोंका अभिप्राय है।

(४) भगवानके शास्त्रोंमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि गुण-भेदसे आत्माका कथन किया है; परन्तु वहाँ उन भेदोंके विकल्पमें जीवको रोक रखनेका शास्त्रोंका आशय नहीं है; भेदका अवलम्बन छुड़ा कर अभेद आत्मस्वभावको बतलाना ही शास्त्रोंका आशय है। भेदके आश्रयसे तो रागकी उत्पति होती है और राग वह जैनशासन नहीं है; इसलिए जो जीव भेदके लक्षसे होने वाले विकल्पोंसे लाभ मानकर उनके आश्रयमें रुके और आत्माके अभेद-स्वभावका आश्रय न करे वह जैनशासनको नहीं जानता है। अनन्त गुणोंसे अभेद आत्मामें भेदका विकल्प छोड़कर, उसे अभेद-स्वरूपसे लक्षमें लेकर उसमें एकाग्र होनेसे निर्विकल्पता होती है; यही समस्त तीर्थंकरोंकी वाणीका सार है और यही जैनशासन है।

५. आत्मा क्षणिक विकारसे असंयुक्त है; उसकी अवस्थामें क्षणिक रागादिभाव होते हैं; उन रागादिभावोंका अनुभव करना वह जैनशासन नहीं है। स्वभाव दृष्टिसे देखने पर आत्मामें विकार है ही नहीं। क्षणिक विकारसे असंयुक्त ऐसे शुद्ध चैतन्यघन स्वरूपसे आत्माका अनुभव करना ही अनन्त सर्वज्ञ-अरिहन्त परमात्माओंका हार्द और संतोंका हृदय है; बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचनामें जो कुछ कहा है उसका सार यही है। निमित्त, राग या भेदके कथन भले हों, उनका ज्ञान भी भले हो, परन्तु उन्हें जानकर क्या किया जाये?—तो कहते हैं कि अपने आत्माका परद्रव्यों और परभावोंसे भिन्न अभेद ज्ञानस्वभावरूपसे अनुभव करो; ऐसे आत्माके अनुभवसे ही पर्याय में शुद्धता होती है। जो जीव इस प्रकार शुद्ध आत्माको दृष्टिमें लेकर उसका अनुभव करे वही सर्व सन्तों और शास्त्रोंके रहस्यको समझा है।

देखो यह शुद्ध आत्माके अनुभवकी वीतरागी कथा है! वीतरागी देव-गुरु-शास्त्रके अतिरिक्त ऐसी कथा कौन सुना सकता है? जो जीव वीतरागी अनुभवकी ऐसी कथा सुनानेके लिये प्रेमसे खड़ा है उसे जैन शासनके देव-गुरु शास्त्र पर श्रद्धा है और उनकी विनय तथा बहुमानका शुभराग भी है; परन्तु वह कहीं जैनदर्शनका सार नहीं है—वह तो बहिर्मुख रागभाव है। अन्तरमें स्वसन्मुख होकर, देव-गुरु-शास्त्रने जैसा कहा है वैसे आत्माका राग-रहित अनुभव करना ही जैन-शासनका सार है।

देखो, यह अपूर्व कल्याणकी बात है! यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो ऐसी बात है कि जिसे समझने से अनादिकालीन भवभ्रमणका अन्त आ जाता है आत्माकी दरकार करके यह बात समझने योग्य है बाह्य क्रियासे और पुण्यभावसे आत्माको लाभ होता है—ऐसा माननेकी बात तो दूर रही; यहाँ तो कहते हैं कि हे जीव! तू उस बाह्यक्रियाको मत देख, पुण्यको मत देख, किन्तु अपने अन्तरमें ज्ञानमूर्ति आत्माको देख। 'पुण्य है सो मैं हूँ।'—ऐसी दृष्टि छोड़कर 'मैं ज्ञायकभाव हूँ'—ऐसी दृष्टि कर। देहादिकी बाह्यक्रियासे और पुण्यसे भी पार ऐसे अपने ज्ञायक-स्वभावी आत्माका अन्तरमें अवलोकन करना ही जैनदर्शन है। इसके अतिरिक्त लोग व्रत-पूजादिकको जैनदर्शन कहते हैं, परन्तु वास्तवमें वह जैनदर्शन नहीं है व्रत-पूजादिकमें तो मात्र शुभराग है और जैनधर्म तो वीतरागभाव-स्वरूप है।

प्रश्न—कितनोंने ऐसा जैनधर्म किया है?

उत्तर—अरे भाई! तुझे अपना करना है दूसरोंका? पहले तू स्वयं तो अपने आत्माको समझकर जैन हो; फिर तुझे दूसरोंकी खबर पड़ेगी! स्वयं अपने आत्माको समझकर अपने आत्माका हित कर लेनेकी यह बात है। ऐसे वीतरागी जैनधर्मका सेवन कर-करके ही पूर्वकालमें अनंत जीवोंने मुक्ति प्राप्त की है, वर्तमानमें भी दुनियामें असंख्य जीव इस धर्मका सेवन कर रहे हैं। महाविदेह क्षेत्रमें तो ऐसे धर्मकी पेढ़ी जोर-शोरसे चल रही है; वहाँ साक्षात् तीर्थंकर विचर रहे हैं; उनकी दिव्यध्वनि में ऐसे धर्मका स्रोत बहता है, गणधर उसे झेलते हैं, इन्द्र उसका आदर करते हैं, चक्रवर्ती उसका सेवन करते हैं और भविष्यमें भी अनंत जीव ऐसा धर्म प्रगट करके मुक्ति प्राप्त करेंगे। लेकिन उससे अपनेको क्या? अपनेको तो अपने आत्मामें देखना चाहिए। दूसरे जीव मुक्ति प्राप्त करें उससे कहीं इस आत्माका हित नहीं हो जाता और दूसरे जीव संसारमें भटकते फिरें उससे इस आत्माके कल्याणमें बाधा नहीं आती। जब स्वयं अपने आत्माको समझे तब अपना हित होता है। इस प्रकार अपने आत्माके लिये यह बात है, यह तत्व तो तीनों काल दुर्लभ है और इसे समझने वाले जीव भी विरले ही होते हैं। इसलिये स्वयं समझकर अपना कल्याण कर लेना चाहिए

(—श्री समयसार गाथा १५ पर पूज्य स्वामीजीके प्रवचन से)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीबाहुबलि-जिनपूजाका अभिनन्दन

मुख्तार जुगलकिशोर द्वारा नवनिर्मित यह पूजा, जो कि पूजा साहित्यमें एक नई चीज है, जबसे पहली बार गत मई मासकी अनेकान्त किरण नम्बर १२ में सामान्य रूपसे प्रकाशित हुई है तभीसे इसको अच्छा अभिनन्दन प्राप्त हो रहा है। यही कारण है कि पुस्तकके रूपमें छपनेसे पहले ही इसकी प्रायः दो हजार प्रतियोंके ग्राहक दर्ज रजिस्टर हो गये थे, जिनमेंसे १५०० के लगभग प्रतियोंका श्रेय श्री जयवन्ती देवी और उसकी बुआ गुणमालादेवीको प्राप्त है, जिन्होंने कुछ स्त्रियोंके परिचयमें इस पूजाको लाकर उनसे इतनी प्रतियोंकी बिना मूल्य वितरणके लिये खरीदारीकी स्वीकृति प्राप्त की। अब तो कुछ संशोधनके साथ अच्छे सुन्दर आर्ट पेपर पर मोटे अक्षरोंमें पुस्तकाकार छप जाने और साथमें श्री गोम्मटेश्वर बाहुबली फोटोचित्र रहनेसे इसका आकर्षण और भी बढ़ गया है और इसलिये जो भी इसे देख सुन पाता है वही इसकी ओर आकर्षित हो जाता है। पं० श्रीकैलाशचन्दजी शास्त्री बनारसने तो प्रथम बार सुनकर ही कहा था कि यदि जैन पूजाओंको इस प्रकारके संस्कारोंसे संस्कारित कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो।' अस्तु, अभिनन्दनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

१. आचार्य नमिसागरजीको 'यह पूजा अत्यन्त प्रिय लगी है।' और उन्होंने हिसारसे पं० सूर्यपालजीके पत्र द्वारा अपना आशीर्वाद भी भेजा है।

२. मुनि श्री समन्तभद्रजीने इसे साद्यन्त पढ़कर अपना भारी आनन्द व्यक्त करते हुए मुख्तारजीके लिये कुछ मंगल भावना भी भेजी है, जैसा कि बाहुबलि ब्रह्मचर्याश्रमके मन्त्रीकी ओरसे लिखे गये पत्रके निम्न अंशसे प्रकट है—

'वह पूज्य श्रीने आद्योपांत पढ़ी। आपका रचा हुआ सुन्दर सरस काव्य, भक्तिरससे भरा हुआ पढ़कर उनको बहुत आनंद हुआ। इस कवित्व शक्तिकी देन आपको प्रकृतिने प्रदान की है। ऐसे ही जिन भक्ति बढ़ानेके कार्यमें ही उसका अधिकाधिक विकास व उपयोग होता रहे यह मंगल भावना साथ भेजी है।'

३. 'पं० अमृतलालजी दर्शन—साहित्याचार्य बनारससे लिखते हैं—'यह पुस्तक लिखकर पूजा-साहित्यमें आपने एक नई चीज उपस्थित की, इसमें कोई सन्देह नहीं। पुस्तक बहुत ही सरस और सरल है। पुस्तक आरम्भ करने पर बन्द करनेकी इच्छा नहीं होती। यह पुस्तक प्रत्येक जैनको अपने संग्रहमें रखनी चाहिये। पुस्तककी छपाई सफाई बहुत ही सुन्दर है और =) (दो आने) मूल्य भी बहुत कम है। इसके लिये हम आपका अभिनन्दन करते हैं।'

४. सम्पादक 'जैन सन्देश' पुस्तककी समालोचना करते हुए लिखते हैं—'निश्चय ही इस नये रूपमें पूजनको समाजके सामने रखनेमें माननीय मुख्तार साहबको बहुत सफलता मिली है। पाठकोंसे यह पुस्तक मंगाकर पढ़नेका और यह पूजन करनेका अनुरोध करेंगे।'

५. डा० श्रीचन्दजी जैन संगल एटा, जिन्होंने पहिले ही इस पूजाको पसन्द करके फ्री वितरणके लिये ५०० कापीका आर्डर दिया था, लिखते हैं कि—'पुस्तक बहुत अच्छी छपी है और सुन्दर है। अब आप महावीर स्वामीकी भी ऐसी एक पूजा बनाकर छपवाइये।'

६. बा० प्रद्युम्नकुमारजी संगलने जब इस पूजाको पढ़ा तो उन्हें वह बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुई और इसलिये उन्होंने अपने इष्ट मित्रादिको वितरण करनेके लिये उसकी १०० कापी खरीदीं परंतु इतनेसे ही उनकी तृप्ति नहीं हुई और इसलिये श्री महावीरजीकी यात्राको जाते हुए वे १०० कापी वितरणको ले गये और यात्रासे पार्टी सहित वापिसी पर लिखा कि—'श्री बाहुबलि जिन पूजाको नित्य हम लोग करते थे, उसमें मुझे सबसे अधिक आनन्द मिलता था। सौ प्रतियाँ इस पूजाकी हम लोगोंने मथुरा और महावीरजीमें बाँट दी थीं। श्रीमहावीरजीकी पूजा आपकी कब पूरी होगी इसकी मुझे बहुत प्रतीक्षा है। प्रथम अंश उसका बहुत उत्तम लगा।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहला
१०१) बा० लालचन्दजी बो० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजो, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्रीमती ज्ञानवतीदेवी जैन, धर्मपत्नी
'वैद्यरत्न' आनन्ददास जैन, धर्मपुरा, देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली । मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org